वर्ष १८] * * * [अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण २०२१, जुलाई १९६४

विषय — पृष्ठ-संख्या

१—भगवान् चन्द्रमौलिसे प्रार्थना [कविता] ... १०१३
२—कल्याण ('शिव') ... १०१४
३—तुम और मैं (महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ महाराज) ... १०१५
४—परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ... १०१७
५—रासपञ्चाध्यायीमें दिव्य प्रेम (कविराज पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ) ... १०२१
६—श्रीरामचरितमानसमें श्रीसतीकी अनन्त महिमा (मानसकेसरी श्रीकृपाशंकरजी रामायणी) ... १०२६
७—मधुर ... १०३०
८—आत्महत्या करनेवाले मूर्ख कष्टमय रौरव नरकके कष्ट भोगते हैं (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) १०३२
९—मनुष्यके स्थूल-सूक्ष्म शरीर (श्रीनिरञ्जनदासजी 'धीर') ... १०३५
१०—विचार-बावनी [कविता] (श्रीकन्हैयालालजी दूगड़) ... १०४०
११—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृतितीर्थ) ... १०४४
१२—मेरी चाह [कविता] ... १०४६
१३—भारतीय ज्यौतिषशास्त्र और भगवान् (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ... १०४७
१४—नित्य आदर्श युगपुरुष राम (श्रीपरमेश्वरीशरणजी वर्मा) ... १०४९
१५—मानवताके बिखरे मोती (संकलनकर्ता—श्री० श्रीराम माधव चिंगले, एम्० ए०) १०५३
१६—लोभ ही दरिद्रता है, इसको दूर कीजिये (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) १०५५
१७—उत्तरदायी कौन ? (श्रीसुन्दरलालजी, बोहरा) ... १०५६
१८—दैहिक साधन [कहानी] (श्री'चक्र') १०५९
१९—क्षयरोग और उसकी चिकित्सा (स्वर्गीय डा० श्रीकुन्दनलालजी अग्निहोत्री एम्० डी० (लंदन) मेडिकल आफिसर टी० बी० सेनेटोरियम, प्रेषक—श्रीरवीन्द्र अग्निहोत्री, एम्० ए०, १६ केलाबाग, बरेली) ... १०६२
२०—उन्नतिमें घोर बाधक 'ईर्ष्या' (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ... १०६५
२१—पण्डित और मूर्ख (आचार्य प्रवासी एम्० ए०) ... १०६७
२२—भोजनमें प्रसाद-बुद्धि (संकलयिता—श्री'माधव') ... १०७१
२३—पढ़ो, समझो और करो ... १०७२
२४—सबमें भगवान् देखिये [कविता] ... १०७६

चित्र-सूची

१—सावधान प्रहरी (लक्ष्मण) (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२—भगवान् चन्द्रमौलि (तिरंगा) ... १०१३

वार्षिक मूल्य भारतमें रु० ७.५० विदेशमें रु० १०.०० (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें .४५ विदेशमें .५६ (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

भगवान् चन्द्रमौलि

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

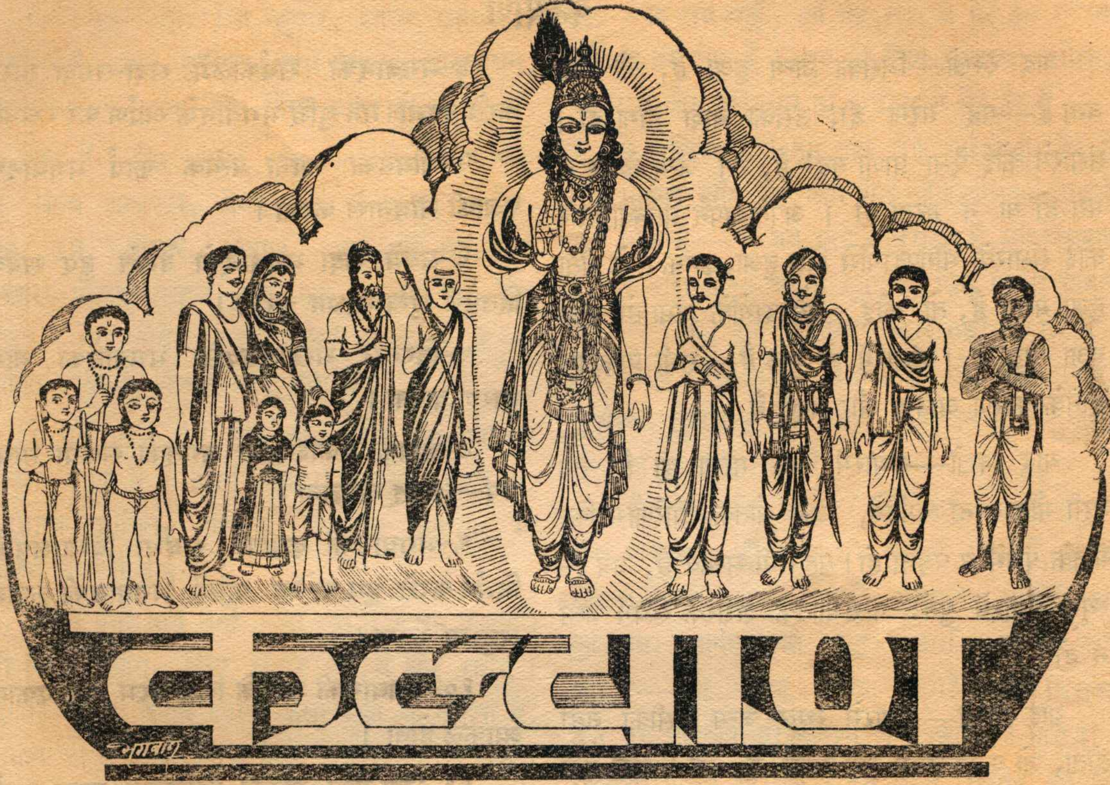

सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥

वर्ष ३८ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०२१, जुलाई १९६४ { संख्या ७ पूर्ण संख्या ४५२

भगवान् चन्द्रमौलिसे प्रार्थना

ध्यानमग्न शुचि शान्त शिव जटामुकुट सुविशाल ।
चन्द्रमौलि अहि-अक्ष-गल-माल त्रिपुण्ड्र सुभाल ॥
शंकर शुभ कल्याणमय सकल सुमङ्गल-मूल ।
भक्ति विमल दो दयामय ! रहो सदा अनुकूल ॥

याद रक्खो—जिसका जन्म हुआ है, जो कभी बना है—वह मरेगा ही, उसका नाश होगा ही। संसारमें कोई ऐसा प्राणी नहीं है, जो जन्म लेकर न मरा हो या न मरता हो। अपने-अपने प्रारब्धानुसार कोई संसारके भोगपदार्थोंसे घिरा हुआ, उनके लिये रोता हुआ मरता है, तो कोई भोगपदार्थोंके अभावमें रोता हुआ मरता है। संसारमें जो कुछ है—सभी प्राकृतिक होनेके कारण अनित्य और अपूर्ण है।

याद रक्खो—संसारमें जब मरना ही है, तब ऐसी मौत मरना चाहिये, जिस मौतका परिणाम फिर मौतके पंजेमें न पड़ना हो। यह तभी सम्भव है, जब इस स्थूल संसारमें पुनः पाञ्चभौतिक शरीरके रूपमें जन्म न हो।

याद रक्खो—संसारमें स्थूल जन्म उसीका नहीं होता, जो कर्मबन्धनसे छूट जाता है, जो मायासे मुक्त हो जाता है। इसी कर्मबन्धनसे छूटनेके तरीकोंका नाम ही परमार्थ-साधन है, जो एक ही लक्ष्यपर अपनी-अपनी दिशाओंसे जानेवालोंके लिये विभिन्न मार्गोंकी भाँति अनेक हैं। उन्हींकी विभिन्न व्याख्याएँ शास्त्रोंमें संतोंकी अनुभवपूर्ण वाणियोंमें हैं।

याद रक्खो—इन विभिन्न साधनोंमें नीचे लिखे साधन यथायोग्य, यथारुचि, यथाधिकार करने योग्य हैं—

१–कामना, स्पृहा, ममता और अहंताका त्याग।

२–ममताका एवं अहंताका भगवान्‌के अर्पण अर्थात् एकमात्र भगवान्‌को ही मेरा मानना और अपनेको एकमात्र भगवान्‌का ही मानना।

३–भगवान्‌के अनन्य शरणागत होकर भगवान्‌की सेवामें—भजनमें लगना।

४–भगवान्‌का सर्वकालमें सदा-सर्वदा स्मरण करते रहना। मन-बुद्धि भगवान्‌के अर्पण कर रखना।

५–जीवनका अपना प्रत्येक कार्य भगवान्‌की पूजाकी भावनासे करना।

६–सबमें सदा भगवान्‌को देखते हुए सबका हितपूर्ण सुख-साधन करना।

७–निरन्तर अखण्डरूपसे भगवान्‌का नाम-स्मरण करना।

८–ज्ञानके प्रकाशद्वारा जगत्‌को सर्वथा माया-मय—असत् समझना।

९–भगवान्‌की कृपापर सर्वथा विश्वासपूर्वक निर्भर करते हुए प्रत्येक फलमें भगवान्‌की कृपाका अनुभव करना।

१०–भगवान्‌की प्राप्तिके लिये परम एवं एकान्त व्याकुल होना।

११–भोग-मोक्ष सबकी वाञ्छाका त्याग करके भगवान्‌से ही अनन्य प्रेम करना।

याद रक्खो—ये सब ऐसे साधन हैं, जिनमेंसे अधिकांशका पालन मन होनेपर प्रायः सभी कर सकते हैं। भगवान् या परमात्मा ही अपना स्वरूप है, इसलिये उनकी प्राप्ति कठिन नहीं है, बहुत सहज है; इच्छाकी तीव्रता और अनन्यता आवश्यक है।

याद रक्खो—इन साधनोंमें न लगकर जो केवल भोगकामनाकी पूर्ति तथा भोगोंके उपार्जनमें ही लगे रहते हैं, वे यहाँ अशान्ति, चिन्ता, भय, विषाद, दुःख तथा क्लेशसे पूर्ण जीवन बिताते हुए मर जाते हैं और फिर जन्म-मृत्युके चक्रमें ही पड़े रहते हैं, जो मानव-जीवनकी सबसे बड़ी असफलता है।

'शिव'

तुम और मैं

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ महाराज)

हे मेरे तुम ! तुम चिर सुन्दर, शान्त, समुज्ज्वल, अपरिम्लान, अति सुविमल, परम प्रेममय, आनन्दघन, चिरन्तन नित्य पुरातन और नित्य नवीन हो ।

और मैं—चिर मलिन, घोर अन्धकार, अमावास्याका सान्द्र अन्धकार, प्रेमगन्धहीन, कठोर, कर्कश, तीव्र, उग्र, निष्ठुर, पाषाण, वज्रसे भी कठिनतम तुम्हारा प्रकाश सहन नहीं कर सकता, तुम्हें मेरा कलुष—मेरा अँधेरा देकर मलिन करके मैं कितना व्यथित होता हूँ, कितनी व्यथा देता हूँ ।

हे मेरे तुम ! तुम मुख हो—और यह अत्यन्त मलिन दर्पण है । इसमें तुम्हारा निर्मल, सुशोभन, मृदुहास्य-सुशोभित, रमणीय, कमनीय मुखचन्द्र भी मलिन दिखायी देता है !

आज एक बात तुम्हें सुना रहा हूँ । तुम वास्तवमें ही नित्य नवीन, नित्य सुन्दर हो, थे और रहोगे । तुमको—तुमको यथार्थ रूपमें कैसा देखा जा सकता है, समझा जा सकता है, ग्रहण किया (पकड़ा) जा सकता है—यही बात मैं सोच रहा हूँ । तुम्हारे कृपा किये बिना तुम्हें नहीं पकड़ा जा सकता—बहुतोंकी भीड़में तुम्हें खोकर मैं हाहाकार कर रहा हूँ, करूँगा । सुनो तुम ! मेरे मनकी बात !

हे दयिततम ! मैं पुत्र बनूँ, तुम पिताका स्वाँग लो । और मैं यदि तुम्हारे कार्योंकी, तुम्हारी पद्धतिकी, तुम्हारे स्नेहकी—प्यारकी समालोचना करके तुमपर दोषारोपण करूँ—विद्यालाभ, धनलाभ आदिमें अपनी शक्ति-सामर्थ्यका वरण करूँ—तो ये दोष तुममें नहीं हैं—ये मेरे मलिन चित्त-दर्पणके दोष हैं । तुम तो नित्य निर्मल हो, नित्य जाज्वल्यमान हो, अत्यन्त पवित्र हो, विशुद्ध हो, पावन हो ।

दूसरी ओर मैं कहीं पिता बनूँ और तुम यदि पुत्र सजो और मैं पुत्ररूपी तुमपर दोषारोपण करूँ—तुम्हारेमें अशेष दोषोंका आविष्कार करूँ—'तुममें पितृभक्ति नहीं है, तुम अविनयी हो, उच्छृङ्खल पितृद्रोही हो'—यह सब कहूँ—तो यह सब भी मेरे इस मलिन दर्पणके ही दोष हैं । तुम तो नित्य सुन्दर, मनोरम, अभिराम और पावनतम हो । दोष तो मेरे ही हैं ।

हे वाञ्छिततम ! तुम यदि बड़े भाई बनो और मैं छोटे भाईका स्वाँग सजूँ और फिर खोज-खोजकर तुम्हारे दोष निकालूँ—'ये बड़े भाई स्नेहरहित हैं, स्वार्थपरायण हैं, मेरे द्वारा केवल अपना स्वार्थ ही सिद्ध करना चाहते हैं'—ऐसे कहूँ तो ये दोष तुम्हारे नहीं हैं, मेरे हैं । तुम अग्रज (बड़े भाई) नित्य निर्मल हो, नित्य सुन्दर, सुललित, सुशोभन और परम पावनतम हो । तुम्हारा लेशमात्र भी दोष नहीं है ।

और तुम यदि अनुज (छोटे भाई) बनो और मैं बड़ा भाई बनूँ और तुम्हारी त्रुटियाँ निकालूँ, तुमपर सैकड़ों-सैकड़ों दोष लगाऊँ; तुम्हारी भक्तिहीनता, कुटिलता, स्वार्थपरताकी बातें फैलाऊँ—तो यह दोष मेरा है—मेरी मलिन दृष्टिका है, मेरे समल चित्तका है । तुम तो ठीक ही लक्ष्मण और भरत-जैसे भाई हो । मैं अपने मलिन चित्तका दोष तुमपर मढ़कर हृदयकी पीड़ा दूर करना चाहता हूँ ।

हे नित्य वाञ्छनीय ! हे प्राणेश्वर ! तुम यदि पतिका स्वाँग सजो और मैं पत्नी बनकर तुम्हारे प्यारकी, तुम्हारे प्रेमकी निन्दा करके तुम्हारे कर्कश व्यवहारकी बात लोगोंसे कहूँ कि 'ये अत्यन्त हृदयहीन हैं, दुश्चरित्र हैं और ममतारहित हैं'—और यन्त्रणा भोग करूँ तो यह दोष मेरा है । तुम तो नित्य रमणीय, महनीय, कमनीय, वरणीय और अत्यन्त पावनतम हो । तुमको मलिन करता हूँ अपने महामलिन चित्तकी कालिमा देकर !

और तुम पत्नी सजो और मैं स्वामी सजूँ एवं मैं यदि केवल दोष ही दोष देखता हुआ तुम्हें लाञ्छित करता रहूँ, कष्ट दूँ, जनसमाजमें अत्यन्त दुष्टा बतलाकर—मुखरा (बहुत बकवाद करनेवाली) और भक्तिरहित बतलाकर अपनेको महान् मानूँ—तो हे महाविशुद्ध ! हे प्रियतम ! यह दोष तुम्हारा नहीं है—मेरे मलिन, सान्द्र अन्धकार चित्त-दर्पणका है ।

हे ईप्सिततम ! तुम गुरु बनो, मैं शिष्य सजूँ और यदि तुम्हारे दोष देखूँ, तुम्हारे स्नेहमें विषमता देखूँ—'तुम पक्षपाती हो और मुझपर कृपा नहीं करते'—यह बात सबसे कहूँ तो यह दोष तुम्हारा नहीं है। यह तो मेरे निविड़ घन अन्धकारसे निर्मित महामलिन चित्त-दर्पणका है।

और तुम यदि शिष्य सजो और मैं गुरु बनूँ एवं केवल तुम्हारी सेवाकी त्रुटि, व्यवहारके दोष देखूँ—तुम्हारे तन-मन-वचनमें निरन्तर दुष्टताका आविष्कार करके अयोग्य, अधम शिष्यकी पीड़ासे छुटकारा पाना चाहूँ तो यह दोष तुम्हारा नहीं है—मेरे प्रगाढ़ अन्धकारसे निर्मित दुष्ट चित्तका है।

हे प्रियतम ! जो कुछ है, सब तुम हो। अति सुनिर्मल, नित्य सुन्दर, नित्य सुशीतल ! मैं अपने मलिन मानसदर्पणमें तुम्हारी श्रीशोभाहीन मूर्ति अङ्कित करके व्यथा पाता हूँ, कितनी बातें कहता हूँ, निन्दा करता हूँ और हृदयकी ज्वालासे जला करता हूँ।

हे अति महान् पावनतम ! हे अपापविद्ध, नित्य शुद्ध ! हे दयित ! तुम इस चित्तको भलीभाँति पवित्र कर दो, नहीं तो केवल चोटपर चोट पहुँचाकर तुमको पीड़ा ही पहुँचा रहा हूँ कितने कालसे और पहुँचाता रहूँगा कितने काल—कितने जन्मोंतक।

केवल समझा दो, जना दो—दोष किसीका नहीं है, दोष मेरा है। दूसरेमें दोष-दर्शन करना मिटा दो प्रियतम ! यह वरदान दो नाथ ! मुझे अपने निजके दोष देखनेमें ही निरन्तर लगाये रक्खो मेरे प्रभु !

कैसा आश्चर्य है। मैं स्वयं प्यार नहीं करता और कहता हूँ—अमुक मुझसे प्यार नहीं करते। मैं प्यार नहीं करता, इसीसे उनके प्यारको मैं समझ नहीं सकता। जिस क्षण मैं उनसे प्यार करूँगा, मुझे दिखायी देगा वे मुझसे कितना प्यार करते हैं। वे और कोई नहीं हैं—बहुरूपिये (छद्मवेशी) तुम्हीं हो।

हे नटचूडामणि प्रियतम ! एकमात्र तुम्हीं ही हो। आकाश-वायु, पर्वत-पहाड़, नद-नदी, वृक्ष-लता, कीट-पतङ्ग, गाय-गदहे, वानर-रीछ, भूत-प्रेत, पिशाच-राक्षस, दानव-मानव, गन्धर्व-किन्नर, असुर-अमर—जो कुछ भी दृश्यजाल है, सबके रूपमें तुम्हीं सजे बैठे हो। एकमात्र चिर मधुमय, शान्तिमय, प्रेममय—तुम्हींको पृथक्-पृथक् इन्द्रियोंके द्वारा पृथक्-पृथक् रूपोंमें ग्रहण किया जा रहा है। उसी प्रियतम तुमको नेत्रके द्वारा 'रूप' मानकर, कर्णके द्वारा 'शब्द' बताकर, त्वक्के द्वारा 'स्पर्श' कहकर, नासिकाके द्वारा 'गन्ध' एवं जिह्वाके द्वारा 'रस' बताकर ग्रहण किया जाता है। परंतु मूलमें हो तुम वह एक ही परम सत्य, परम प्रेममय, आनन्दमय, मेरे मनके मन, मेरे प्राणोंके प्राण, आत्माके आत्मा रसतम !

हे मेरे सभी साधनोंके साध्य दयिततम ! पढ़ता-सुनता हूँ, अभ्यासके द्वारा प्रयत्न करता हूँ; परंतु हे प्राणवल्लभ ! हे मेरे प्राणेश्वर ! हे मेरे सर्वेश्वर ! सर्वस्व अन्तरतम ! तुम्हारी करुणाके बिना तो तुम्हें यथार्थ-रूपमें नहीं पा सकता। कृपा करो प्रियतम ! कृपा करो, कृपा करो। सभी स्वाँगोंमें—सभी वेशोंमें तुम्हीं हो। तुम्हीं मुझको पवित्र करनेके लिये, अपना बनाकर सेवाके लिये, अपनेमें घुलामिला लेनेके लिये सतत व्याकुल हो। मुझको समझाकर—जनाकर यह विश्वास करा दो—कि मैं अब किसीके दोष न देखूँ। 'सब तुम हो'—इस बातको मनसे, प्राणोंसे समझकर सदा तुम्हारे गुणगानमें ही लगा रहूँ। मैं अपने दोषोंको देख-देखकर एक-एक दोषको पकड़-पकड़कर तुम्हारे चरणोंपर चढ़ा सकूँ—दोषोंके द्वारा ही तुम्हारी पूजा करके तुम्हारा बन जाऊँ—

नत कर दो, नत कर दो मुझको, तुरत बना लो अपना दास।
रख लो मेरे अहंकारको छीन सदा ही अपने पास॥
मेरे 'मैं' को अपना कर लो, कर लो पूर्ण नित्य अधिकार।
'मैं' को खोकर, होकर नित्य तुम्हारा, रहूँ सदा अविकार॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर प्रणाम । आपका कृपापत्र मिला । समाचार ज्ञात हुए । जपके सम्बन्धमें आपने पूछा सो उपांशु जप तो उसे कहते हैं जिसमें होठ तो हिलते हैं, पर जपका शब्द दूसरेको स्पष्ट सुनायी नहीं देता । मानसिक जप इससे आगेका है ।

श्वासके जपके जो दो प्रकार मैंने उस पत्रमें बताये हैं, वे यदि आपकी समझमें आ गये तो ठीक है ।

नाड़ीके द्वारा जप करनेका प्रकार यह है कि भृकुटी-में, कण्ठमें या कलाईमें नाड़ी चलनेका जो शब्द (ठपका) होता है, उसके साथ-साथ जो नाम-जपका अनुभव किया जाय, उसे नाड़ीद्वारा होनेवाला जप कहते हैं । यह मानसिक जपका ही एक भेद है; क्योंकि मन नाड़ीपर टिकनेसे ही नाड़ीके शब्दकी अनुभूति और उसके द्वारा नाम-जपकी भावना हो सकती है—अन्यथा नहीं ।

अनहद (अनाहत) नादके द्वारा जप करनेका प्रकार इस प्रकार है कि रात्रिमें जब सब मनुष्य और पशु-पक्षी सो जाते हैं, उस समय अपने दोनों कानोंको अंगूठोंसे बंद करनेपर निरन्तर होनेवाला एक शब्द कानमें सुनायी देता है, उसे ही अनहद नाद कहते हैं । उसमें अपने प्रभुके नामकी भावना करनेपर वह नाम स्पष्ट सुनायी देने लगता है । उसके सुननेमें मन लगाना ही अनहद नादके द्वारा होनेवाला जप है । अभ्यास बढ़ जानेपर यह जप दिनमें व्यवहारकालमें भी, जब भी साधक अन्तर्मुखवृत्ति करके उसे सुनना चाहता है, तभी सुनने लगता है । फिर कान बंद करना या रात्रिमें सब लोगोंके सो जानेके बाद अभ्यास करना नहीं पड़ता । यह भी मानसिक जपका ही दूसरा भेद है ।

मानसिक जपका तीसरा भेद है संकल्पद्वारा जप करना । इसमें श्वासका, नाड़ीका या अनहद नादका भी सहारा नहीं लिया जाता । यह सीधा मनके द्वारा किया जाता है । जैसे कोई भी शब्द हम बोलना चाहते हैं तो वह पहले मनमें आकर ही वाणीमें व्यक्त होता है । उसे वाणीमें व्यक्त न करके मन-ही-मन बोलते रहना—इसे संकल्पद्वारा किया जानेवाला जप कहते हैं । संकल्प-द्वारा नाम-संकीर्तन भी किया जा सकता है ।

इसके सिवा, नाम-जपकी एक विधि यह भी है कि जो नाम साधकको प्रिय हो, जो उसका इष्ट हो, उस नामका मानसिक चित्र अर्थात् लिखे हुए अक्षरोंको मन-ही-मन पढ़ते रहना ।

इन चार प्रकारके जपोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है । ये सभी मानसिक जपकी ही संज्ञामें आ जाते हैं । जिस साधकके लिये जो सहज हो, जिसको वह अनायास बिना परिश्रमके कर सके, जो प्रकार उसे रुचिकर, विश्वसनीय और प्रिय हो, वही प्रकार उसके लिये विशेष उपयोगी है, यह मेरी मान्यता है ।

(२)

सादर प्रणाम । आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) बी० ए० पास होने और न होनेकी चिन्ता न करके वहाँ तककी योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिये । आप यदि परिश्रम करें तो बिना सर्टिफिकेटके बी० ए० से भी ऊँची योग्यता बहुत कम समयमें और जीविकाका काम करते-करते प्राप्त कर सकते हैं । फिर चिन्ता क्यों की जाय ? जिसमें योग्यता होती है, उसकी आवश्यकता सबको हो सकती है । केवल पास हो जाय; पर योग्यता

न हो तो वह योग्य स्थान नहीं पाता, यह प्रायः देखा जाता है ।

(२) आप अपनी जीविका सत्यता और ईमानदारीके साथ चलाना चाहते हैं, यह बड़ी अच्छी बात है । जो यह कहते हैं कि अध्यापकका जीवन बेकार है, वे बेसमझ हैं, उनकी बात आदर करनेके योग्य नहीं है; क्योंकि यदि कोई अध्यापक न रहे तो विद्याका विस्तार ही कैसे हो ? रही धन कमानेकी बात सो अध्यापक भी हजारों रुपये मासिक पानेवाले हो सकते हैं ।

मनुष्यको धन उतना ही कमाना चाहिये, जितना जीवननिर्वाहके लिये आवश्यक हो। उससे अधिक अनायास मिल जाय तो उसे दूसरोंके हितमें लगाना चाहिये, अपने उपभोगमें नहीं ।

जो यह कहते हैं कि 'बार-बार सत्य-असत्यका विचार करनेवाले उन्नति नहीं कर सकते'—वे लोग यह भी नहीं जानते कि वास्तविक उन्नति किसे कहते हैं । इस बातको जानते होते तो ऐसा नहीं कहते । अतः उनका कहना मानने योग्य नहीं है । उनके साथ भी जो असत्य व्यवहार और बेईमानी करता है, उसे वे भी अच्छा आदमी नहीं मानते। इसपर विचार करें तो कभी भी सत्यता और ईमानदारीका त्याग नहीं कर सकते ।

आपका यह विचार बहुत अच्छा है कि 'मुझे धन और अधिकारकी आवश्यकता नहीं है।' आपको इसीपर दृढ रहना चाहिये और आन्तरिक विवेकके अनुसार ही चलना चाहिये ।

आपके साथी बेईमानी करके खूब धन बटोर रहे हैं, समाज उनको बुद्धिमान् मान रहा है—यह सब देखकर भी आपको न तो अधीर होना चाहिये और न सिद्धान्तसे विचलित ही होना चाहिये । आखिर विजय सत्यकी होगी । धन या मान-बड़ाई किसीके साथ नहीं जायँगे। आध्यात्मिक उन्नति ही वास्तविक उन्नति है ।

आपके अभिभावक जो आपसे नाराज रहते हैं, उनको विनयपूर्वक सद्व्यवहारद्वारा संतुष्ट करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । जीविकाका रास्ता मिल जानेपर यथासाध्य उनकी सहायता करनी चाहिये । अपने जीवनका भार उनपर नहीं पड़ने देना चाहिये ।

आप अध्यापक बननेका विचार त्याग दें—यह आवश्यक नहीं है । पर यदि वैसी परिस्थिति प्राप्त न हो तो जो कोई जीविकाका न्याययुक्त काम आपकी योग्यताके अनुरूप सहजभावसे प्राप्त हो, उसे ही पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिये, किसी प्रकारका आग्रह नहीं रखना चाहिये । न्याय-अन्यायका ध्यान रखना तो परम आवश्यक है । इसे बुरा कौन कह सकता है ? बेईमानीसे धन नहीं मिलता । यदि मान लिया जाय कि मिलता है, तो भी वह धन किसी कामका नहीं है । उससे पतन होना अनिवार्य है ।

(३) ज्योतिषियोंकी बतायी हुई बातें न मिलनेके कारण अधीर नहीं होना चाहिये । प्रथम तो उनमें बहुतोंको यथार्थ पता ही नहीं होता; दूसरे, वे लोगोंको खुश करनेके लिये बहुत-सी बातें बनाकर भी कह दिया करते हैं ।

अपना भाग्य खोटा मानकर निराश नहीं होना चाहिये । अपने कर्तव्यका पालन करनेवाला ही उन्नति कर सकता है । इसमें भाग्यसे सम्बन्ध नहीं है । भाग्यके भरोसे आलसी बन जाना तो मूर्खता है ।

(३)

सादर हरि-स्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । उत्तर इस प्रकार है—

(१) किसीसे कुछ नहीं लेना चाहिये—इसका यह भाव है कि अपने लिये किसीसे कुछ चाहना या किसी प्रकारकी इच्छा नहीं करनी चाहिये । माँ, भाई, रिश्तेदारोंकी ओरसे जो बिना माँगे आ जाय, उसे उसी

परिस्थितिमें स्वीकार करना चाहिये, जब अस्वीकार करनेसे देनेवालेके मनमें दुःख होनेकी आशंका हो, स्वीकार करनेसे उनको हर्ष होता हो या उनके मानकी रक्षाके लिये स्वीकार करना आवश्यक हो। इस प्रकारका लेना लेना नहीं है; अपितु उनको सम्मान और स्नेह प्रदान करना है, जो कि आवागमनसे छूटनेका एक साधन है।

किसीको कुछ देना अर्थात् किसीका हित करना उत्तम है; पर वह मुक्तिका साधन तभी हो सकता है, जब देनेवालेमें यह अभिमान न हो कि मैं दाता हूँ और जिसे दे रहा हूँ वह दीन, हीन है; यह वस्तु मेरी है। अपितु वह यह समझे कि यह वस्तु उसीकी है जिसको दी जा रही है, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। इस भाव-से दिया हुआ लेनेवालेको नया कर्ज देना नहीं है; बल्कि पुराने ऋणका भुगतान है। इस प्रकार निष्काम-भावसे किया हुआ हितकार्य कल्याण करनेवाला है।

(२) किसी भी वस्तु आदिको अपनी मानकर उसका संग्रह उपभोगके लिये करना, संग्रह की हुई वस्तुमें ममता और आसक्ति करना साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। अतः साधकको ऐसा नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य सब कुछ प्रभुका समझकर प्रभुकी सेवाके रूपमें सबके हितको लक्ष्यमें रखकर संग्रह करता है, वह संग्रहके दोषसे लिप्त नहीं होता।

(३) जिस कमरेमें सोते-बैठते हैं, उसमें भगवान्-के चित्रोंका रखना बहुत अच्छा है।

(४) प्रभुको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अपना मान लेनेसे और अपनेको उनका मान लेनेसे जब उनसे नित्य सम्बन्ध हो जाता है, तब प्रभुका स्मरण अपने-आप हर समय हो सकता है।

भजन-स्मरणमें पाप बाधक नहीं हो सकते। श्रद्धा-प्रेम-सद्भावकी कमी ही भजनमें सबसे बड़ी बाधा है।

गीताप्रेसमें भक्तिपरक पुस्तकें बहुत हैं। आप सूची-पत्रमें देखकर मँगवा सकते हैं।

(४)

सादर हरि-स्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) पूर्वकृत कर्मोंमें जिन कर्मोंका फलभोग इस जन्ममें भोगनेके लिये निश्चित कर दिया गया है, उसीको भाग्य या प्रारब्ध कहते हैं। उसके अनुसार मनुष्यको लाभ-हानि, सुख-दुःख-भोगकी परिस्थिति प्राप्त होती रहती है। नये कर्मोंसे प्रारब्धका परिवर्तन नहीं होता, किंतु नये कर्मका नया फल मिल सकता है। वह कब और किस प्रकार मिलेगा—इसमें फलदाताकी इच्छा ही प्रधान है। यदि कर्त्ताके संकल्पमें श्रद्धाका बल हो तो इस जन्ममें भी उसका फल मिल सकता है।

पूजा-पाठ, सेवा और ईश्वर-भक्तिसे भाग्य न बदले तो भी उसके प्रारब्धके फलभोगका सम्बन्ध केवल शरीरसे रह जाता है, भक्तका उससे सम्बन्ध छूट सकता है। साधनमें सफलता बड़ी सुगमतासे मिल सकती है। इसमें भाग्य बाधक नहीं हो सकता।

(२) ईश्वर सम है—इसमें कोई संदेह नहीं। यही कारण है कि वह अपने कानूनका पालन सबके साथ समानभावसे करता है। कोई भी मनुष्य, वह चाहे जिस जातिका और चाहे जैसा भी क्यों न हो, जो ईश्वरकी भक्ति करता है, उसे ईश्वर अपना लेता है। यही उसका सुहृदतापूर्ण कानून है। अतः ईश्वरकी समतामें कोई दोष नहीं है।

सांसारिक क्षेत्रमें सफलता मिलना और न मिलना बहुत कुछ भाग्यपर निर्भर है और कुछ नवीन कर्मोंके विधान-पर भी। बहुत परिश्रम करनेवालेको सफलता न मिलने-का कारण उसके कर्त्तव्यपालनमें विधि-विधान, श्रद्धा आदि किसी प्रकारकी त्रुटि हो सकती है। इसी प्रकार जो परिश्रम नहीं करता, उसे सफलता मिलनेमें भाग्यका सम्बन्ध हो सकता है।

(३) इस युगमें वह काम भी हो सकता है जिसका होना पहलेसे निश्चित नहीं है; क्योंकि न होनेवाली बात पहलेसे निश्चित नहीं होती, होनी ही पहलेसे निश्चित होती है। इसमें उदाहरण आप प्रत्येक भक्तोंके जीवनसे ले सकते हैं। भगवत्प्रेम और प्रभु-दर्शनका होना यद्यपि पहलेसे निश्चित नहीं होता, पर साधकको ये दोनों ही मिल सकते हैं।

(४) जो एकमात्र ईश्वरको चाहता है, उसे ईश्वर चाहते हैं (गीता ४।११)। ईश्वरको एकमात्र प्रेमकी ही चाह है। व्यक्तिभावको लेकर ईश्वर किसीको नहीं चाहता; क्योंकि वह सर्वथा हेतुरहित है।

(५)

सादर हरि-स्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) यदि आपको यह विश्वास है कि जो एक बार प्रभुकी मनोहर मूर्तिका दर्शन कर लेता है, वह उनपर बिना अखण्ड प्रेम किये नहीं रह सकता तो फिर उस भगवान्‌का दर्शन करनेके लिये आप व्याकुल क्यों नहीं हो जाते? उनका तो यह कानून ही है कि जो एकमात्र उन्हींके दर्शनके लिये व्याकुल हो जाता है, उसे अवश्य दर्शन देकर कृतार्थ कर देते हैं। अतः इसके करनेमें आप सर्वथा स्वतन्त्र हैं; क्योंकि इसमें तो श्रद्धा-विश्वास-प्रेम ही प्रधान है।

(२) कारीगरोंद्वारा बनायी गयी भगवान्‌की मूर्ति तो एक संकेतमात्र है। उसमें कमी दिखायी देना कोई आश्चर्य नहीं है। मूर्ति बनानेवाले कारीगरोंने भगवान्‌को देखा थोड़े ही है। देख भी लें तो उनका स्वरूप चित्रण करनेमें थोड़े ही आ सकता है; क्योंकि वह तो सर्वथा अलौकिक है। अतः आपको चाहिये कि प्रभुके स्वभावपर विश्वास करके उनका प्रत्यक्ष दर्शन करनेकी इच्छाको तीव्र बनावें।

(३) सामाजिक विषमता मिटा देना तो किसीके वशकी बात नहीं है; पर मनुष्य अपने मनसे विषमता-का भाव मिटाकर समाजके सामने आदर्श उपस्थित कर सकता है। इससे सबको बड़ा भारी लाभ हो सकता है; किंतु अपनेमें गुणोंका अभिमान करना, दूसरोंको मूर्ख या दोषी समझना भी महान् विषमता है। इनके रहते हुए कोई भी समाजकी विषमताको कैसे मिटा सकता है? विषमताको मिटानेके लिये पहले अपनेमेंसे विषम भावोंको सर्वथा निकालना चाहिये। समता भी प्रभुकी प्राप्तिका, उनके दर्शनोंका बहुत उत्तम उपाय है। अतः इसके लिये अवश्य प्रयत्नशील होना चाहिये।

(४) लोग जो आपके पक्षपातरहित स्वभावकी और सत्यभाषणकी प्रशंसा करते हैं, उसे सुनकर आपके मनमें हर्ष नहीं होना चाहिये एवं जो विरोधी भाव रखनेवाले निन्दा करते हैं, उसे सुनकर दुःख भी नहीं होना चाहिये। प्रशंसा करनेवालोंमें आसक्ति और निन्दा करनेवालोंमें द्वेष भी नहीं होना चाहिये। दूसरोंको पक्षपात और असत्य-भाषण करते देखकर न तो उनपर घृणा होनी चाहिये, न अपनेमें अभिमान ही होना चाहिये। तभी समता प्राप्त हो सकती है।

साधकको चाहिये कि दुखियोंका दुःख देखकर उनके दुःखसे स्वयं दुखी हो जाय, अपने सुखको निष्कामभावसे उनके दुःख-निवारणमें लगा दे, पर ममता या मोहके वश होकर नहीं। प्रभुकी प्रसन्नताके लिये सबके हितके उद्देश्यसे सेवा करे। जो अन्यायपूर्वक दूसरोंको कष्ट दे रहे हैं, वे भी बेचारे दुखी हैं। अतः उनपर भी क्रोध न करके उनका सुधार करनेकी ही भावना रखनी चाहिये। उनका भी जिस प्रकार हित हो, वही करना चाहिये। तभी समताका रहस्य समझमें आ सकता है और शान्ति मिल सकती है। राग-द्वेषके रहते हुए शान्ति नहीं मिल सकती। केवल आँखें मूँदनेमें कोई लाभ नहीं

है, उसी प्रकार ममता, अभिमान और राग-द्वेषमें भी लाभ नहीं; क्योंकि इनके रहते हुए सेवा नहीं हो सकती।

(५) मनको वशमें करनेका सहज उपाय गीताके छठे अध्यायके ३५वें श्लोकमें अभ्यास और वैराग्य बतलाया गया है। इनमें बार-बार मनको प्रभुके भजन-स्मरणमें लगाना 'अभ्यास' है और राग-द्वेषसे रहित होना ही 'वैराग्य' है।

(६) भगवान्‌की प्रेरणा और चेतावनी तो पापका त्याग और शुभकर्मका आचरण करनेके लिये ही मिलती है; पर प्राणी उस प्रेरणाकी अवहेलना करके राग-द्वेषके वशमें होकर वह काम करने लग जाता है, जो उसे नहीं करना चाहिये। बुरे कर्मोंकी प्रेरणा तो कामकी है, भगवान्‌की नहीं। अर्जुनका प्रश्न और भगवान्‌का उत्तर गीताके तीसरे अध्यायके ३६वें श्लोकसे ४३वें तक देखें।

रासपञ्चाध्यायीमें दिव्य प्रेम

(लेखक—कविराज पं० श्रीहरिवल्लभजी जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ)

अनुदिनमिदमायुः सर्वदासत्प्रसङ्गै-
र्बहुविधपरितापैः क्षीयते व्यर्थमेव।
हरिचरितसुधाभिः सिच्यमानं तदेतत्
क्षणमपि सफलं स्यादित्ययं मे प्रयासः॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—इन पञ्चमहाभूतोंसे रचित हमारे इस स्थूल पिण्डात्मक शरीरमें एक ऐसी चेतन वस्तुका भान हमें होता है, जो इन जडतत्त्वोंसे पृथक् ज्ञानवान् और प्रकाशमान है। जिसको जीव या आत्मा, अथवा 'मैं' कहकर पुकारा जाता है। यह 'मैं' क्या वस्तु है—इसका ज्ञान हम सब सांसारिक प्राणियोंको वास्तवमें नहीं है, संसारके समस्त पदार्थोंका ज्ञान-विज्ञान सम्पादन करनेकी शक्ति रखनेवाला यह 'मैं' अपने आपको नहीं जानता—कैसी विडम्बना है यह।

यद्यपि इस 'अहं' ने इस स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरमें एवं मन-बुद्धि-अहंकार आदिके समुदायमें अपनेको ऐसा घुला-मिला दिया है कि इनसे पृथक् यह अपनेको देख ही नहीं पाता है। यही कारण है कि यह कहता है—'मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, कृष्ण अथवा गौर हूँ अथवा बुद्धिमान्, मूर्ख या सुखी-दुखी हूँ।'

किंतु 'मैं' के इतने-से ज्ञानसे इसे संतोष नहीं होता; क्योंकि जिन स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंमें इसने 'मैं' का अभिमान कर रक्खा है, वे दोनों ही जड, विनाशी एवं दुःखरूप हैं और स्वरूपतः यह 'मैं' तो चेतन, शाश्वत और सुखरूप है। इसीलिये जडके साथ तादात्म्यताको प्राप्त अवस्थामें भी इसमें ये भावनाएँ सदा बनी रहती हैं, मैं ज्ञानवान् रहूँ, सदा बना रहूँ, सदा स्वतन्त्र रहूँ एवं सदा सुखी रहूँ। यह निश्चित है कि ज्ञान, सुख, स्वातन्त्र्य और शाश्वतता जड विनाशी दृश्य पदार्थोंका धर्म नहीं, ये भावनाएँ जडमें तो हो ही नहीं सकतीं और मुझमें ये सदा बनी रहती हैं—अतः मैं इनसे कोई पृथक् सत्-चित्-आनन्दरूप वस्तु-तत्त्व हूँ, पर कैसा हूँ, मेरा यथार्थ स्वरूप क्या है—इसका पूर्ण ज्ञान मुझे नहीं। यह ज्ञान हुए बिना कभी तृप्ति हो नहीं सकती। इस 'मैं' के यथार्थ रूपको जाननेकी जिस प्राणीके हृदयमें तीव्र उत्कण्ठा जाग उठती है, उसीको 'जिज्ञासु' या 'मुमुक्षु' कहते हैं। यह जो अपनी अपूर्णता, परिच्छिन्नता, अस्वतन्त्रता, विनाशिता, अशाश्वतता और अज्ञतामें कभी संतोष नहीं करता है। इसीसे यह स्वतःसिद्ध है कि इसका स्वरूप पूर्ण, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र, शाश्वत और आनन्दरूप है। अपने इस शाश्वत-स्वरूपका साक्षात् अनुभव किये बिना इसे कभी शाश्वती शान्ति, कभी पूर्ण संतोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

जबतक यह 'मैं' अपने व्यष्टिजीवनको समष्टि तत्त्वके चिरन्तन जीवन-प्रवाहमें मिला नहीं देता, तबतक यह स्वरूपतः पूर्ण होते हुए भी पूर्ण नहीं है। विश्वके सार्वभौम जीवनमें मिले बिना यह अपूर्ण अथच अर्थहीन है। यही कारण है कि संसारके समस्त धर्मशास्त्र और महात्माजन व्यष्टिको समष्टिमें मिलानेके ही भिन्न-भिन्न साधन बतलाते हैं। सभी धर्मोंने यह स्वीकार किया है कि मनुष्य या समस्त चेतन पदार्थोंमें और अचेतन जड तकमें भी ब्रह्मकी अखण्ड

सत्ता विद्यमान है और इस अनित्य नश्वर जगत्में वही एक अनन्त और शाश्वत है । धर्म तथा जीवनकी गहराईमें उतर-कर हमारे ऋषियोंने यह अनुभव किया कि समस्त अनित्यताकी तरङ्गों या बुद्बुदोंके नीचे एक महान् नित्य-प्रशान्त नित्य-निरञ्जन अकल अनीह चेतन स्वयंज्योति अनन्त सुख-समुद्र अवस्थित है । यह निखिल ब्रह्माण्ड उस एकका न तो परिणाम है और न विवृति ही । यह उसकी लीला है ।

श्रीमद्भागवत-शास्त्र आनन्दस्वरूप श्रीहरिकी सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति, आश्रय—इन दशविध लीलाओंका प्रतिपादन करनेके लिये ही एक वेदका चतुर्धा व्यास करनेवाले व्यासजीके द्वारा आविर्भूत हुआ है ।

आनन्दस्य हरेर्लीलां वक्ता भागवतागमः ।

ब्रह्मके 'एकोऽहं बहु स्याम्'के संकल्पसे सहज ही इस निखिल ब्रह्माण्डका विराट् अभिनय प्रारम्भ हुआ । वह स्वयं ही लीलायमान हो गया । विश्वका रङ्गमञ्च नाच उठा । इस रङ्गमञ्चमें विभिन्न दृश्यों, अभिनेताओं और अभिनयके रूपमें वही व्याप्त होकर लीला कर रहा है । सब उसीकी अभिव्यक्ति है । सूत्रमें जिस प्रकार मणियोंका हार पिरोया होता है, उसी प्रकार वह अखिल चराचरमें होता हुआ उसे वेधता हुआ ओतप्रोत हो रहा है ।

सभी कुछ उसीमें तल्लीन है, ओतप्रोत है और सभी-में वह वैसे ही वर्तमान है जैसे दूधमें घी, मिश्रीमें मिठास, बीजमें सारा वृक्ष मूलरूपमें सारभूत होकर संनिहित है, वैसे ही वह हममें घुला-मिला, ओतप्रोत है, फिर भी हमारा-उसका साक्षात्कार नहीं होता ।

पीउ हृदय में भेट न होई । कोरे मिलाव कहों केहि रोई ।

हमारी सारी जिज्ञासा, उत्सुकता, अभिलाषामें मूल प्रेरणा देनेवाली बस, यह उपर्युक्त भावना ही है ।

हम सतत उसके स्पर्शमें आने, उसे निहारने एवं उसमें लीन होनेके लिये व्याकुल हैं ।

हम अरुणांशुकवसना उषाकी रूप-श्रीमें, मधुमासमें मञ्जरीके भारसे अवनत हुई लता-वल्लरियोंमें, विविध वर्णोंके पुष्पोंसे विकसित और हर्षित तरुण द्रुमोंके मन्द-मृदु हासमें, कोकिलकी करुण कल कुहू-कुहूध्वनिमें, शारदीय पूर्ण शशधरकी शुभ्र शीतल ज्योत्स्नामें, सजल श्रावण मासके नील नीरदोंमें, प्रातःकालके पक्षिशावकोंके कल मधुर कूजनमें और फुदकते हुए शिशुओंकी मन्द मुसकानसे सुशोभित प्रफुल्ल आनन्दभरित अरुण-मधुर आननोंमें सदा-सर्वदा एक अविनश्वर आनन्दकी अजस्र स्रोतस्विनीके प्रवाहको देखते हैं और आनन्दविभोर हो उठते हैं ।

हम इन विभिन्न चित्रोंके पीछे छिपे हुए चतुर चित्रकारको, इस विराट् अभिनयके महान् सूत्रधारको देखना चाहते हैं और चाहते हैं उस गायकको देखना, जिसके इस अनन्त संगीतमें अखिल विश्व विमुग्ध हो रहा है और इच्छा करते हैं उस विचित्र नृत्य कलाकार नटवरके साक्षात्कार-की, जिसके प्रत्येक पदन्याससे प्रेरित अखिल चराचर जगत् अनादिकालसे अस्वतन्त्रकी भाँति विविध भंगिमाओंमें नाच रहा है। हमारी इस जाग्रत् अभिलाषा, चिर अतृप्त आकांक्षाकी पुनीत प्रेरणा ही हमें उसके अनुसंधानमें प्रवृत्त करती है ।

इसीकी खोजमें हमारे आत्मदर्शी महर्षियोंने अपना तन-मन गला दिया और निरवगुण्ठित प्रकृतिके आवरणहीन सौन्दर्यके अविच्छिन्न साहचर्यमें आकर अपने अन्तस्में उसके अतल स्पर्शका अनुभव किया, एवं आनन्दविभोर होकर अपनी अनुभूतिको शब्दोंद्वारा जितना कुछ यत्-किंचित् प्रकाश कर सकते थे, किया ।

वेदोंमें इस परम तत्त्वकी उपलब्धिके लिये प्रकृतिके इन्हीं व्यक्त तत्त्वोंकी उपासना भी होती थी । वरुण, इन्द्र, यम, अग्नि, विष्णु आदिकी पूजा प्रचलित थी । ऋग्वेदमें वरुण सबसे श्रेष्ठ देवता माने गये हैं । अखिल ब्रह्माण्डको विष्णुके द्वारा तीन पदोंसे मापे जानेकी कथा दुहरायी गयी है । ऋग्वेदके प्रथम मण्डलका १५४ वाँ सूक्त ही विष्णुकी इस महिमाके वर्णनके लिये प्रसिद्ध है । वहाँ **'विचक्रमाणस्त्रे-धोरुगायः'** इस पंक्तिमें स्पष्ट विष्णुका वामनचरित्र उपलब्ध होता है । परंतु वहाँ छठे मन्त्रमें

'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै, यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ।' १ । १५४ । ६ ।

अर्थात् विष्णुका यह पावन लोक जिसमें अनेक सींगों-वाली गायें चरती-फिरती हैं, वैदिक वाङ्मयमें जिस गो-लोक-विहारी गोचारक गोपालक विष्णुकी हमें एक झलक मिलती है, वही विष्णु आगे चलकर हमारे 'गोपाल' बन जाते हैं ।

उपनिषदोंमें ज्ञानका ही विषय प्रधान है । उन्होंने

ब्रह्मात्मैक्यका ही प्रतिपादन किया है। हमारे क्रान्तदर्शी महर्षियोंने स्पष्ट कह दिया है कि ब्रह्म हमारे मन-वाणीकी पहुँचके परे है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

क्योंकि वह परब्रह्म पञ्चभूतोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँच गुणोंसे रहित, अनादि, अनन्त और अव्यय है। परंतु ज्ञानाश्रयी उपनिषदोंमें भी अव्यक्तकी व्यक्त उपासनाकी झलक कहीं-कहीं मिलती है। तैत्तरीय उपनिषद्की भृगुवल्लीमें वरुणने भृगुको यही उपदेश दिया है कि अन्न ही ब्रह्म है, फिर क्रमसे प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द—इन ब्रह्म-रूपोंका ज्ञान उसे करा दिया है, परंतु अन्तमें आते-आते उत्तरकालीन उपनिषदोंमें सच्चिदानन्दकी अनुभूति श्रीकृष्णके रूपमें की गयी है। गोपालतापनी उपनिषद्में—

सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे

तथा अथर्वशीर्षमें **'गोविन्दं सच्चिदानन्दम्'** आदि पद आते हैं। ब्रह्मसंहिताके पञ्चम अध्यायका प्रथम श्लोक है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

सारांश यह है कि कर्मप्रधान वेदोंमें भी ब्रह्मकी प्रतीकोपासना हमें स्पष्ट दिखलायी देती है। उपनिषदोंमें श्रीकृष्ण वासुदेव देवकीनन्दनका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इस प्रकार विष्णु, अच्युत, नारायण, वासुदेव, श्रीकृष्ण आदिकी भक्तिका उपदेश हमें उपनिषदोंसे प्राप्त होता है और ये सब परब्रह्म परमात्माके ही स्वरूप हैं। महाभारतके नारायणीयोपाख्यानमें भक्तिकी एक झिलमिल आभा विकीर्ण हुई जो श्रीमद्भागवतमें विराट्रूपमें प्रकट हुई। नारदसूत्र और शाण्डिल्यसूत्रमें तो भक्तितत्त्वकी पूर्ण मीमांसा दार्शनिक पद्धतिसे हुई है। श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें श्रीकृष्णकी रासलीला और चीरहरणकी लीलाओंका जो मधुर वर्णन हुआ, उसमें प्रेम और आनन्दकी इतनी अधिक मात्रा है कि जनताका हृदय आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। यहाँ भक्ति ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानकी साधनमात्र नहीं, किंतु स्वयं साध्य ही है। गीतामें जो कहीं-कहीं परमभावकी झलक मिलती है, वह श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धोक्त भक्तिसे सर्वथा भिन्न नहीं है। गीताके अठारहवें अध्यायके अन्तिम उपदेश-वचनको ही लीजिये जिसे कहकर भगवान्ने अर्जुनके अन्तश्चक्षुको ही खोल दिया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

बस, इसी परमभाव-स्वरूपा प्रेमाभक्तिका परिपूर्ण वर्णन कहीं हुआ है तो वह एकमात्र श्रीमद्भागवतकी रासपञ्चाध्यायीमें ही हुआ है, अन्यत्र कहीं नहीं। ये पाँच अध्याय तो मानो भागवतके पञ्चप्राण ही हैं। भावुक भक्तोंकी दृष्टिमें इनके बिना यह समस्त भक्तिशास्त्र निष्प्राण-सा ही हो जाता है।

हम पहले यह कह आये हैं कि आनन्दसुधासिन्धुके एक बिन्दु-स्वरूप इस जीव 'मैं' को अपने मूल आनन्द-समुद्रमें मिलनेकी भावना सदा बनी रहती है। यह परिच्छिन्नता, अल्पज्ञता, अस्वतन्त्रता, दुःख और अशाश्वतताको सहन नहीं कर सकता। अपने व्यष्टिस्वरूपको समष्टिमें ले जाये बिना इसे शान्ति नहीं मिलती। व्यष्टिको समष्टिमें लीन कर देना ही तो परम पुरुषार्थ है।

पर यह सिद्ध कैसे हो? इस जिज्ञासाकी शान्तिके लिये हमें वेद और शास्त्रोंकी ही शरणमें जाना होगा। महापुरुषोंके अनुभवसे भी लाभ उठाना होगा—केवल शास्त्रचर्चासे ही संतोष करनेसे सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। स्वयं विचारित शास्त्र भी कभी-कभी इतना भ्रम उत्पन्न कर देता है जो जन्मभर प्रयास करते रहने एवं महापुरुषोंद्वारा उद्बोधित करनेपर भी नहीं मिटता।

इसलिये शास्त्राध्ययन भी—गुरुसम्प्रदायसे करना चाहिये।

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत, स गुरुमेवाधिगच्छेत्, आचार्यवान् पुरुषो वेद। इत्यादि—

श्रुति-स्मृति-वाक्य गुरुसे ही ज्ञान प्राप्त करनेकी विधिपर जोर देते हैं। आचार्यसे प्राप्त की हुई विद्या ही फलप्रसू होती है।

'आचार्याद्देवाधिगता विद्या साधिष्ठं प्रापयति'

इत्यादि प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि गुरुसम्प्रदायागत विद्या ही कल्याणकारिणी है। भगवान् शंकराचार्यने तो असम्प्रदायागत विद्याभिमानीके लिये लिखा है—

स्वयंमूढोऽन्यान् व्यामोहयति शास्त्रार्थसम्प्रदायरहितत्वात्, श्रुतहानिमश्रुतकल्पनां च कुर्वन्, तस्मादसम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदुपेक्षणीयः।

जिसने गुरुसे विद्या नहीं प्राप्त की, वह अपनी स्वतन्त्र

कल्पनाके अनुसार तात्पर्य निकाल लेता है। परिणामस्वरूप शास्त्रविरुद्ध कल्पना कर बैठता है। ऐसा मूढ स्वयं तो मूढ है ही, यदि वावदूक बन गया तो दूसरोंको भी व्यामोहित करता है। अर्थात् स्वयं भी शास्त्रसे कोई लाभ नहीं उठाता और दूसरोंको भी उससे वञ्चित करता है।

ज्ञानमार्ग और प्रेम (भक्ति-) मार्ग ही परमात्म-प्राप्तिके मुख्य साधन हमारे शास्त्रकारोंने माने हैं जिनमें अन्तःकरणकी शुद्धिके साधन कर्मयोगकी सिद्धि होनेपर ही अधिकार प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर भी चित्तकी दो प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं—कठोर और द्रुत। जिनका चित्त कठोर होता है वे ज्ञानके अधिकारी हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन ही उनका प्रधान साधन है। इस साधनमें अन्तःकरणके बुद्धितत्त्वकी प्रधानता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—ये चार भेद एक ही अन्तःकरणके उसकी क्रियाओंमें भेद होनेसे माने गये हैं।

बुद्धि-तत्त्व कठोर और मनस्तत्त्व मृदुस्वभाव है। बुद्धिका अधिष्ठाता सूर्य है, जो स्वभावसे तीक्ष्णोष्ण है, अतएव बुद्धि बिना तर्ककी कसौटीपर कसे किसी तत्त्वको तत्त्व-रूपमें ग्रहण नहीं करती, तत्त्वका पक्षपात करना ही बुद्धिका स्वभाव है, **'तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः'**। इसलिये विवेचनापूर्वक तत्त्वोपलब्धि करना बुद्धिका स्वभाव है **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया इति'**। मन मृदुस्वभावका तत्त्व है, मनका अधिष्ठाता सोमरसप्रधान चन्द्र है, अतः यह बहुत शीघ्र द्रवित हो जाता है, श्रद्धा करना इसका स्वभाव है। जिसपर यह श्रद्धा करता है, उसके गुण-दोषकी विचारणा नहीं करता। अतः प्रेमका स्वभाव केवल प्रेम करना ही है। प्रेमके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति करनेमें मनस्तत्त्वकी ही प्रधानता है, अतएव श्रुति कहती है—**'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन'**। भगवान्‌के अतिरिक्त इस संसारमें और कुछ है ही नहीं, इसको मनसे ही प्राप्त करो।

इसीलिये संसारमें दो प्रकारके प्राणी ही देखे जाते हैं। बुद्धितत्त्वप्रधान और मनस्तत्त्वप्रधान। श्रीमद्भागवतमें इन दोनोंके पृथक्-पृथक् साधनका अधिकारी बतलाया गया है।

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥

(११। २०। ११)

इस मनुष्य-शरीरमें रहते-रहते ही स्वधर्मको निष्कामभावसे पालन करनेवाला पुरुष निष्पाप और रागादि दोषसे रहित होकर पवित्र हो जाता है। इसके अनन्तर अनायास ही आत्मतत्त्वके साक्षात्कार करा देनेवाले गुरुका योग हो तो विशुद्ध ज्ञानको प्राप्त हो जाता है, या द्रुतचित्त हो एवं यदृच्छासे भक्त गुरु मिल जाय तो मेरी भक्तिको प्राप्त करता है।

गुरु ही शिष्यकी मनोवृत्तियोंको अपनी सूक्ष्मबुद्धिसे पहचान कर उसे उसके अधिकारानुसार ज्ञान या भक्तिका उपदेश देकर उसके गन्तव्य स्थानपर निर्विघ्न पहुँचानेमें सहायक हो सकते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको, जो एकमात्र ज्ञानके द्वारा ही भगवत्-प्राप्तिपर विश्वास करते थे तथा एक प्रकारसे ज्ञानके अभिमानी थे—गोपियोंको समझानेके लिये—उपदेश देनेके लिये भेजा। वहाँ जाकर लौटनेपर भगवान्‌ने पूछा—'क्यों उद्धव! तुम्हारे उपदेशका गोपियोंपर क्या प्रभाव पड़ा?' इसपर उद्धवने कहा—

यत्तासामुपदेशाय भवता मह्यमर्पितम्।
जगद्गुरो गुरुत्वं तन्मया ताभ्यः समर्पितम्॥

'भगवन्! आपने मुझे गोपियोंको उपदेश देनेके लिये गुरु बनाकर भेजा था। मैंने आपके इच्छानुसार गुरुका पद स्वीकार भी कर लिया था, पर जगद्गुरो! आपने जो गुरुत्व मुझे दिया था, मैंने उसे गोपियोंको समर्पित कर दिया।' अर्थात् उद्धवने गोपियोंको ही अपना गुरु बना लिया और कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उद्धवने स्पष्ट शब्दोंमें कहा—

दिष्ट्या प्रवर्तिता भक्तिर्मुनीनामपि दुर्लभा।

'गोपाङ्गनाओ! बड़े आनन्दकी बात है तुमलोगोंने उस (रागानुगा प्रेमा-) भक्तिका प्रवर्तन किया है जो अबतक मुनियोंको भी दुर्लभ थी।'

सार यह है कि रागानुगा भक्तिकी आद्य आचार्य गोपाङ्गनाएँ ही हुई हैं। इनके पहले ऋषि-मुनियोंमें शास्त्रविहित वैधी भक्तिका ही प्रचार था।

भक्तिके दो भेद

भक्तिरसामृतसिन्धु आदि भक्तिशास्त्रोंमें भक्तिके दो भेद माने गये हैं, जिनके नाम हैं—वैधी भक्ति और रागानुगा भक्ति। वैधी भक्ति उसे कहते हैं, जहाँ साधकका स्वाभाविक

राग तो श्रीहरिमें नहीं होता; किंतु शास्त्रकी आज्ञासे भक्तिके साधनोंमें प्रवृत्ति की जाती है। उसे शास्त्रविधिसे प्राप्त होनेके कारण वैधी संज्ञा दी गयी है। यथा—

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥

इस प्रकारके शास्त्र-वचनोंसे आवर्जित होकर जो भक्ति की जाती है वह 'वैधी भक्ति' कहलाती है। इस प्रकारकी भक्तिको 'मर्यादामार्ग' भी कहा जाता है।

रागानुगा भक्ति

श्रीकृष्णके अवतारकालमें जिनका स्वाभाविक राग श्रीकृष्णमें था उनकी भक्तिको रागात्मिका भक्ति कहा गया है। वह राग सम्बन्धजन्य और कामजन्य होनेसे दो प्रकारका है। इसलिये रागात्मिका भक्तिके दो भेद माने गये हैं। व्रजवासियोंका राग स्वभावतः श्रीकृष्णमें था। हाँ, उनके रागमें सम्बन्ध भी सहायक कारण अवश्य था। कोई उन्हें अपना बालक समझकर प्रेम करते थे तो कोई भाई, मित्र या सखा मानते थे। पर उनकी स्वाभाविक प्रेममयी तृष्णा श्रीकृष्णमें थी।

इसलिये व्रजवासी गोपाल बाल-वृद्ध-युवा तथा वृष्णि-लोग सबने अपना-अपना विशेष सम्बन्ध श्रीकृष्णसे जोड़ रक्खा था। यद्यपि उनका राग श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्यसे मोहित होकर स्वभावतः था, तथापि किसी-न-किसी सम्बन्धके कारण वह और भी अधिक होता जाता था। अतः उनके रागमें सम्बन्धकी प्रधानता होनेके कारण उनकी रागात्मिका भक्ति 'सम्बन्धानुगा' मानी गयी।

कामजा भक्ति

काम शब्दसे यहाँ 'प्रेम' विशेष ही समझना चाहिये, न कि लौकिक वह काम, जिसमें अङ्ग-सङ्गात्मक नीच विषय-वासनाकी तथा स्वसुखकी तृष्णा प्रधान होती है। काम और प्रेममें यही भेद है। काममें स्वसुख-वाञ्छा और इन्द्रिय-तृप्तिकी प्रधानता रहती है एवं प्रेममें अपने सुखका त्याग और प्रियतमको ही सुख मिले, इस भावकी प्रधानता रहती है। इसमें स्वसुख-कामकी कहीं गन्ध भी नहीं रहती। यदि कहीं दिखायी देती भी है तो वह प्रेमके ही अङ्ग-स्वरूप होती है, इसीलिये श्रीवल्लभाचार्यने लिखा है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

गोपरामाओंका प्रेम ही 'काम' नामसे प्रसिद्ध हुआ है; क्योंकि गोपाङ्गनाओंके हृदयमें स्वसुख-वाञ्छाका कहीं लेश ही नहीं था। केवल श्रीकृष्णको सुख पहुँचाना ही उनका एकमात्र परम ध्येय था। गोपियोंका अशन-पान, स्नान, शृङ्गार, केश-प्रसाधन आदि विविध व्यवहार श्रीकृष्णको सुख मिले, इसी हेतुसे होता था। उनकी अपनी कोई भी वाञ्छा या क्रिया अपने सुखके लिये नहीं होती थी। इसलिये उनकी रागात्मिका भक्ति सब व्रजवासियोंकी भक्तिसे भी श्रेष्ठतम मानी गयी है; क्योंकि इसमें केवल श्रीकृष्णको सुख पहुँचाना ही गोपियोंका अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य था।

यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः।

इसलिये गोपियोंकी भक्ति 'कामज' कही जानेपर भी उसमें कामकी गन्ध नहीं थी, केवल प्रेम—एकमात्र विशुद्ध प्रेमकी ही प्रधानता थी। अतः गोपियोंका प्रेम ही 'काम' शब्दसे व्यवहृत हुआ है।

केवल कामजभक्ति

केवल कामप्रधान भक्ति तो कुब्जाकी थी। कुब्जाने भगवान्‌के अनुपम सौन्दर्य एवं कैशोरावस्थाजन्य अङ्ग-सौष्ठवपर मुग्ध होकर अङ्गरागका अर्पण किया था और उससे प्रसन्न हुए भगवान् श्रीकृष्णने उसे ऋजु अङ्ग-वाली अर्थात् कूबड़ निकालकर उत्तम प्रमदा बना दिया। तब उसने जो कहा सो व्यासजीके शब्दोंसे सुन लीजिये—

ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम्।
उत्तरीयान्तमाकृष्य स्मयन्ती जातहृच्छया॥
एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ॥

(श्रीमद्भागवत १०। ४२। ९-१०)

इसके अनन्तर वह रूप, गुण और औदार्यसे सम्पन्न हो गयी और कामबासनासे पीड़ित होकर मन्द मुसकान करती हुई भगवान्‌के उत्तरीय वस्त्रको खींचकर बोली—पुरुषश्रेष्ठ! आइये, मेरे साथ अपने घर चलें। मैं अब आपको छोड़ नहीं सकती। आपके दर्शनसे मेरा चित्त उन्मथित हो गया है, कृपा कीजिये। भगवान्‌ने अवसर आनेपर उसकी मनोवाञ्छा पूर्ण करनेको कहा और पूर्ण भी की। परंतु व्यासजीने उसे 'दुर्भगा' ही कहा—

सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत॥

आह्नोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया।
रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण॥
(श्रीमद्भागवत १०। ४८। ८-९)

इस प्रकार दुःखसे प्राप्त होने योग्य कैवल्य देनेवाले ईश्वरको अङ्गरागके अर्पणमात्रसे प्राप्त करके भी दुर्भगा कुब्जाने केवल उनसे यही वर माँगा कि कमललोचन! प्रियतम! कुछ दिन यहाँ ही रहिये। मेरे साथ रमण कीजिये। मैं आपका सङ्ग नहीं त्याग सकती।

कुब्जाकी रति गोपाङ्गनाओंके सदृश शुद्ध रति नहीं थी, इसलिये भगवान्के अङ्ग-सङ्गके कारण करोड़ों प्राणियोंकी अपेक्षा सुभगा होनेपर भी वह दुर्भगा ही रही!

(क्रमशः)

श्रीरामचरितमानसमें श्रीसतीकी अनन्त महिमा

(लेखक——मानसकेसरी श्रीकृपाशंकरजी रामायणी)

प्रातःस्मरणीय, विश्ववन्द्य श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी अमर एवं भावमयी लेखनीके द्वारा श्रीरामचरितमानसमें अनेक महान् पात्रोंके महान् चरित्रोंका अनेक प्रकारसे चित्रण हुआ है। सभी चरित्रोंका अपना-अपना वैलक्षण्य है। प्रत्येक चरित्र अपना-अपना विभिन्न महत्त्व रखता है। कुछ चरित्र ऐसे भी हैं, जिन्हें अधिकांश आलोचक एवं विचारक संशयात्मक दृष्टिकोणसे देखते हैं और उस समय प्रायः यह विस्मृत-सा कर देते हैं कि इस चरित्रमें भी वैशिष्ट्य एवं महत्ता सम्भाव्य है।

मानसमें ऐसे अनेक पात्र हैं, जिनके जीवनवृत्तका एक अङ्ग दूषणसहित है तो द्वितीय अङ्ग दोषरहित, महान् प्रेरणाप्रद और परमोज्ज्वल है। ऐसी परिस्थितिमें साधक-समुदायका कर्तव्य है कि पात्रके जीवनवृत्तके उस द्वितीय अंशको ही विशेष सम्मान दें और उसी अंशका वास्तविक अनुकरण करनेका सत्प्रयास करें।

प्रस्तुत लेखमें मानसके बालकाण्ड-स्थित भूमिका-प्रसंगमें कथित परम सती, पराम्बा, भगवती, भवानी सतीके द्वारा आचरित सतीत्वका वर्णन ही लेखकका अभीष्ट विषय है। श्रीसतीके जीवनवृत्तका यह संक्षिप्तांश उपर्युक्त प्रस्तावनाके आधारपर द्वितीय अङ्ग है।

पतिव्रता नारी प्रायः अपने पतिके साथ ही समय व्यतीत करना चाहती है, पति निवास-स्थलपर हो अथवा अन्यत्र, उसे तो केवल पतिका साहचर्य ही अभीष्ट है, वह भी इसलिये कि वियुक्ता होकर वह नित्यप्रति पति-पाद-पद्मोंका दर्शन नहीं कर सकती, पतिके चरणोंकी सेवा नहीं कर सकती, जिसे वह अपने जीवनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य मानती है। आदर्श नारी अपने पतिके साथ वैषयिक भावनासे भावित होकर नहीं रहती। कामुकी भावना तो नारियोंको पतित बनाकर निकृष्टतम बना देती है।

श्रीसतीजी निरन्तर श्रीशंकरके साथ ही रहती थीं——

संग सती जग जननि भवानी ....।

तथा

.........चले भवन सँग दच्छकुमारी॥

उत्तम नारी अपने पतिसे महान् किसीको नहीं मानती, वह तो 'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं' की भावनासे भावित होती है, वह तो अपने पतिमें ही परमेश्वरके भी दर्शन करती है। उत्तम भक्तगण परमेश्वरमें दोषदर्शन नहीं करते। परमेश्वरमें दोष है भी कहाँ? वहाँ तो दोष-दर्शनकी कल्पना भी कल्पनातीत पाप है। ठीक इसी प्रकार उत्तम पतिव्रता भी अपने परमाराध्य पति परमेश्वरमें कथमपि दोष-दर्शन नहीं करती।

रघुपति-व्रतधारी, देवाधिदेव, श्रीमहादेवके सम्बन्ध-त्यागके अनन्तर एवं उनकी अखण्ड समाधि लगनेके पश्चात् श्रीसती उसी कैलासशिखरपर एकान्त निवास करती हैं, उनके मनमें पति-परित्यागका दुःसह दुःख है, प्रबल चिन्ता है, किंतु वे उस दुःख और चिन्ताको न्यून करनेका प्रयास नहीं करती हैं। उपाय तो है——'कहेहू ते कछु दुख घटि होई' परंतु वे इस युक्तिको कार्यान्वित नहीं कर रही हैं। भीतर-ही-भीतर वे अपनेको चिन्ताग्नि तथा शोकाग्निसे दग्ध कर रही हैं——

तपइ अवाँ इव उर अधिकाई।

कितना साद्दश्य है सतीकी चिन्तामें और अवाँकी अग्निमें। दोनों भीतर-ही-भीतर जलती तथा जलाती हैं। अवाँकी अग्नि बाहरसे किञ्चिन्मात्र भी नहीं दिखायी देती, ठीक उसी प्रकार श्रीसती भी अपने हृदयमें व्यथित करनेवाली चिन्ता एवं दुःखको किसीसे व्यक्त नहीं करती हैं। वे सोचती हैं—'किससे कहूँ, क्या कहूँ ? यदि किसीसे आत्मपरितापके विषयमें निवेदन करूँगी तो हृदयाराध्यकी निन्दा होगी। पतिनिन्दा तो पति-परित्यागसे भी भयंकर कष्ट है।' आश्चर्य है ! सतासी सहस्र संवत्सरकी लंबी अवधि व्यतीत हो जानेपर भी उनके मनमें न तो पतिके प्रति किसी दुर्भावनाकी ही सृष्टि हुई और न पतिप्रेममें ही किंचित् न्यूनता आयी। इतने वर्षोंके व्यतीत हो जानेपर भी किसीके सामने इस रहस्यका उद्घाटन नहीं हुआ। इसका कारण स्पष्ट है कि श्रीशंकर तो समाधिमें थे और श्रीसतीने किसीसे कहना युक्तिसंगत नहीं समझा।

सती बसहिं कैलास तब अधिक सोच मन माहिं।
मरम न कोऊ जान कछु जुग सम दिवस सिराहिं॥

श्रीसतीके अन्तस्तलमें केवल एक ही कामना है कि किसी प्रकार मेरा यह परित्यक्त शरीर विनष्ट हो जाय। उन्हें स्वयं अपना शरीर ही घृणास्पद प्रतीत हो रहा है; क्योंकि उस शरीरके द्वारा अब शिवसेवा नहीं सम्पन्न हो रही है; दूसरे वह पतिके द्वारा परित्यक्त है। श्रीसती उस शरीरकी समाप्तिके लिये ब्रह्मा एवं श्रीरामसे विनती करती हैं कि मेरा यह शरीर अविलम्ब समाप्त हो जाय।

नित नव सोच सती उर भारा। कब जैहउँ दुख सागर पारा॥
मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पति बचन मृषा करि जाना॥
सो फलु मोहिं बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा॥
अब बिधि अस बूझिअ नहिं तोहीं। संकर बिमुख जिआवसि मोहीं॥
कहि न जाइ कछु हृदय गलानी। मन महुँ रामहिं सुमिरि सयानी॥
जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरति हरन बेद जसु गावा॥
तौ मैं बिनय करौं कर जोरी। छूटउ बेगि देह यह मोरी॥

श्रीभवानी सतीके हृदयमें अनुदिन, अभिनव और विशाल चिन्ता हो रही थी कि मेरे इस वियोगरूपी गंभीर सागरका अन्त कब होगा ? अर्थात् मेरी देहसमाप्ति कब होगी ? यद्यपि मेरे द्वारा जो दो भयंकर अपराध हुए हैं—श्रीरामका अपमान और श्रीशंकरके वचनोंमें मिथ्यात्वकी प्रतीति, उनका फल मुझे ब्रह्माने दिया, उनका यह कार्य उचित भी था, परंतु अब प्राणाधिक पतिदेवसे विमुख होनेपर भी मुझे जीवित रखना उचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार श्रीसतीजीकी हार्दिक ग्लानिका वर्णन लेखनी एवं वाणीका विषय नहीं है। बुद्धिमती सतीने मनमें अकारण-करुण श्रीहरिका स्मरण किया और लगीं प्रार्थना करने—'हे प्रभो ! श्रुतियोंने आपकी विशद कीर्तिका विस्तृत वर्णन किया है कि आप निःशेष क्लेशोंका विनाश करनेवाले हैं। हे प्रभो ! यदि आपको भक्तवर्ग सत्य ही 'दीनदयालु' नामसे पुकारता है तो मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि मेरा यह शरीर शीघ्र ही समाप्त हो जाय।' इस पदमें 'यह' सर्वनाम अपना विशेष महत्त्व रखता है। 'यह देह' अर्थात् जिस शरीरने श्रीरामको भ्रमित करना चाहा, जिस शरीरने माता श्रीजनकनन्दिनीका रूप धारण किया, जिस शरीरने अपने जीवनाराध्यको ठगना चाहा, जो शरीर पतिद्वारा सहस्रों वर्षोंसे परित्यक्त है तथा जिस शरीरके विषयमें भगवान् भूतभावनने कहा कि 'एहि तन सतिहि भेंट अब नाहीं।'

निम्नाङ्कित पंक्तियोंमें तो श्रीसतीका शिवप्रेम चरम सीमापर है—

जौं मोरे सिव चरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रत एहू॥

तौ सबदरसी सुनिअ प्रभु करउ सो बेगि उपाइ।
होइ मरन जेहि बिनहिं श्रम दुसह बिपति बिहाइ॥

एहि बिधि दुखित प्रजेस कुमारी। अकथनीय दारुन दुख भारी॥

यदि सत्य ही भगवान् शंकरके पादपद्मोंमें मेरा अविचल स्नेह है और मेरा वह स्नेह मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य है तो हे प्रभो ! हे सर्वान्तर्दर्शिन् ! मेरी विनय सुनिये ! अविलम्ब वह व्यवस्था करें कि जिसके द्वारा बिना ही श्रम मेरा शरीर शान्त हो जाय। इस प्रकार दक्ष प्रजापतिकी पुत्री सती अत्यन्त दुखी थीं। उनका दुःसह दुःख वर्णन करनेमें महाकविकी लेखनी भी मूक हो जाती है।

आदर्श पत्नी विश्वके कठोरतम अशेष क्लेशोंका वहन कर सकती है, परंतु अपने जीवन-सर्वस्व पतिकी निन्दा एवं पतिका अपमान सहन करनेमें सर्वथा असहिष्णु रहेगी। पतिका अपमान उसे मृत्युतुल्य कष्टप्रद होता है।

श्रीसती मुख्य-मुख्य रुद्रगणोंके साथ पितृगृहमें जाती हैं। वहाँपर एक जननीके अतिरिक्त किसीने भी उनका यथोचित सम्मान नहीं किया। उनकी सहोदरा भगिनियाँ सुसम्मानित होकर प्रफुल्लित थीं। उनकी प्रसन्नताका पारावार नहीं था। ये सतीको देखते ही मुस्करा उठीं। मुस्कराना तो प्रसन्नताका भी द्योतक है, परंतु उनका यह मुस्कराना और मिलना—प्रसन्नता एवं सम्मानका परिचायक नहीं था। वे तो मिल रही थीं गर्वसे, मुस्करा रही थीं व्यंग्यसे। मानो वे मुस्कराकर कह रही थीं कि 'बहन! हमें तो तुम्हारे आनेकी कल्पना भी नहीं थी, देवाधिदेवकी पत्नी अनिमन्त्रित तथा अनाहूत कही जायगी। इसकी तो त्रिकालमें भी आशा न थी। आश्चर्य है! कैसे आ गयी तुम बिना आमन्त्रण अथवा आवाहनके ही? जहाँतक हमारा ज्ञान है, पिताजीने देवाधिदेवके संनिकट कोई आमन्त्रण नहीं प्रेषित किया। सम्भवतः कोई गुप्तचर गया होगा?' साथ ही वे अपनी भाव-भंगिमाके द्वारा यह भाव भी व्यक्त करनेका प्रयास कर रही थीं कि 'हमें तो पिताजीने आमन्त्रित किया है तो हम आयीं। यदि हमारे पास आमन्त्रण न जाता तो हम कभी न आतीं। हमारा तो पितृगृहमें अत्यन्त सम्मान है।' गृह-पति दक्षने भी सतीसे किंचित् वार्तालाप करना अनावश्यक प्रतीत किया। वार्तालापकी तो चर्चा ही क्या, कुशल-क्षेमका प्रश्नोत्तर भी नहीं किया उन्होंने, अपितु श्रीसती-को देखकर ही दग्ध हो गये वे और उनका हृदय एवं शरीर। घोर आश्चर्य है! पिताको पुत्रीका आगमन भला नहीं प्रतीत हुआ। कितना घोर अपमान है श्रीसतीका उनके ही पितृगृहमें और उनके ही अपने ही जनकके द्वारा।

पिता भवन जब गई भवानी। दच्छ त्रास काहु न सनमानी॥
सादर भलेहिं मिली एक माता। भगिनीं मिलीं बहुत मुसुकाता॥
दच्छ न कछु पूछी कुसलाता। सतिहि बिलोकि जरे सब गाता॥

सभी ओरसे असम्मानित होनेके पश्चात् भी श्रीसती शान्त हैं। किसीके सादर न मिलनेका उन्हें किञ्चित् मात्र भी कष्ट नहीं हुआ। सहोदरा भगिनियोंकी व्यङ्ग्यपूर्ण मुसुकान-को महत्त्वपूर्ण नहीं परिज्ञात कर रही थीं वे। दक्ष प्रजापति अपने पिताके द्वारा असम्मान भी उन्हें खिन्न बनानेमें असमर्थ था। किंतु उस यज्ञमें, जिसका आयोजन उनके अपने पिताने किया था; उसमें जब श्रीसतीको भगवान् विश्वनाथका भाग नहीं दृष्टिगोचर हुआ, तब तो उनका हृदय दग्ध हो गया। अब उन्हें अपना आना भला नहीं प्रतीत हुआ। उनके हृदयरूपी गंभीर महासागरमें प्रचण्ड तूफान आ गया। उनकी शान्ति भङ्ग हो गयी; क्योंकि यह तो उनके जीवन-सर्वस्वका अपमान है। मेरे पतिका अपमान मेरे अपने ही पिताने किया है—यह सोचकर तो उन्हें श्रीशंकरके परित्यागसे भी बढ़कर भयंकर कष्ट हुआ। यद्यपि श्रीसतीकी वात्सल्यमयी, ममतामयी माताने नाना प्रकारसे उन्हें समझानेका प्रयास किया, परंतु शिवप्राणा श्रीसतीका पति-प्रेमसे ओतप्रोत हृदय न समझ सका और न शान्त ही हो सका।

सतीं जाइ देखेउ तब जागा। कतहुँ न दीख संभु कर भागा॥
तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ। प्रभु अपमानु समुझि उर दहेऊ॥
पाछिल दुखु न हृदयँ अस ब्यापा। जस यह भयउ महा परितापा॥
जद्यपि जग दारुन दुख नाना। सब तें कठिन जाति अवमाना॥
समुझि सो सतिहि भयउ अति क्रोधा। बहु बिधि जननीं कीन्ह प्रबोधा॥

सिव अपमानु न जाइ सहि हृदयँ न होइ प्रबोध।
सकल सभहि हठि हटकि तब बोलीं बचन सक्रोध॥

और तब उन्होंने जिन निर्भीक, आदर्श एवं त्यागसे संवलित वचनोंका उच्चारण किया है, वे बचन पतिव्रता स्त्रियोंके लिये भारतीय महिलाओंके लिये—आर्य ललनाओंके लिये परम आदर्श तथा मनन करनेयोग्य हैं। उन वचनोंके अक्षर-अक्षरमें श्रीसतीका किन्हीं भी देश-काल परिस्थितियोंमें, किसी भी कारण, कभी विनष्ट न होनेवाला पतिप्रेम झलक रहा है।

सुनहु सभासद सकल मुनिंदा। कही सुनी जिन्ह संकर निंदा॥
सो फलु तुरत लहब सब काहूँ। भली भाँति पछिताब पिताहूँ॥
संत संभु श्रीपति अपबादा। सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूदि न तु चलिअ पराई॥
जगदातमा महेसु पुरारी। जगत जनक सब के हितकारी॥

पिता मंदमति निंदत तेही। दच्छ सुक्र संभव यह देही॥
तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चंद्रमौलि बृषकेतू॥

हे सम्पूर्ण सभासदो एवं मुनिवरो ! आपलोगोंने अथवा जिन लोगोंने भी भगवान् शंकरकी निन्दा अपने मुखके द्वारा की है अथवा कानोंसे सुनी है, उन सभीको उस भयावह पापका परिणाम तुरंत प्राप्त होगा। मेरे पिता भी अपवाद न होंगे। उनको भी जी भरकर भली प्रकार पश्चात्तापकी भयंकर अग्निमें जलना होगा अन्तमें गर्व खर्व हो जानेपर। कल्याणमय साधु, श्रीशंकर एवं श्रीविष्णुका अपवाद जिस स्थलपर सुना जाय, वहाँ मर्यादा इस प्रकार है कि यदि श्रोता समर्थ हो तो निन्दककी निन्दा करनेकी शक्तिको—जिह्वाको सर्वदाके लिये समाप्त कर दे, अन्यथा श्रवणपर अपना हाथ रखकर (कान मूँदकर) निन्दास्थलसे पलायन कर जाय। त्रिपुरासुरका विनाश करनेवाले श्रीमहादेवजी अखिल विश्वके आत्मा हैं, संसारके पिता हैं एवं प्राणीमात्रके हितैषी हैं। अपने आत्मा पिता और हितैषीसे घृणा करनेवाला व्यक्ति चाहे कितना भी महान् क्यों न हो किंतु अल्पबुद्धिकी ही पदवी प्राप्त करेगा। अतः मेरे मंदमति पिता सर्वान्तर्यामी, सर्वान्तर्दर्शी, सर्वभूतकल्याणकर्ता भगवान् विश्वनाथकी निन्दा करते हैं और मेरा यह शरीर दक्षशुक्र-सम्भूत है। अतः चन्द्रमौलि, वृषकेतु भगवान् शंकरको हृदयमें धारण करके मैं दक्षसे सम्बन्धित इस शरीरका सद्यः परित्याग करूँगी। इस शरीरके विद्यमान रहनेसे शिवनिन्दकसे सम्बन्ध बना रहेगा।

अहा ! कितनी आदर्श पति-भक्ति है कि पतिनिन्दकके शुक्रद्वारा संवर्धित शरीर भी उन्हें घृणास्पद प्रतीत होने लगा और उन्होंने उस शिवनिन्दक दक्षके शुक्रद्वारा संवर्धित शरीरको अविलम्ब ही योगाग्निके द्वारा क्षारके रूपमें परिणत कर दिया।

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा··············

श्रेष्ठ पतिव्रता स्त्री पतिके द्वारा कठोरतम कष्ट पाकर भी उसी क्लेश देनेवाले पतिको ही पतिके स्वरूपमें देखती है और भविष्यमें भी देखना चाहती है। न केवल एक जीवनपर्यन्त, अपितु सहस्र जीवनपर्यन्त—लक्षजीवनपर्यन्त, जीवनपर्यन्त अर्थात् जन्म-जन्मान्तरमें भी।

श्रीसतीकी जीवन-यात्राके अन्तिम क्षणोंमें परम कारुणिक, वरदायक, प्रणतारति-भंजन, भक्तकल्पपादप, परम प्रभु श्रीहरिका आविर्भाव हुआ। संभवतः प्रभुने कहा भी होगा। 'देवि ! मेरे स्वरूप-ज्ञानकी जिज्ञासामें तुम्हें अपार कष्ट वहन करना पड़ा। पतिके द्वारा परित्यक्त होना पड़ा। सहस्रों वर्षोंकी अवधितक एकाकी वियोगिनीका जीवन निर्वाह करना पड़ा। तिल-तिल करके जलना पड़ा। शोक और चिन्ताकी दारुण अग्निमें और आज·········।' प्रभुकी वाणी गद्‌गद हो गयी, कंठ अवरुद्ध हो गया। धन्य हो गुणग्राहिन् ! आपके बिना कौन समझ सकता है सतीका जीवन-मर्म ! अस्तु, धैर्य धारण करके, स्वरको संयत करके पुनः प्रवाहित किया अपनी उदार वाग्धाराको महाप्रभु श्रीरामने। 'पतिप्राणे ! मेरे ऊपर कृपा करके अपने इस परम पवित्र जीवनकी अन्तिम पुनीत घड़ियोंमें जीवनकी, मनकी अन्तिम अभिलाषा व्यक्त करके मुझे कृतार्थ कीजिये।' फल-स्वरूप श्रीसतीने वर याचना की। आइये, इस लेखके उपसंहारमें हम श्रवण करें कि उस परम पतिव्रता, पतिप्राणा श्रीमहासती सतीके जीवनकी, मनकी क्या अन्तिम अभिलाषा है ?

हे प्रभो ! मेरे जीवनकी एकमात्र यही कामना है कि मैं जब भी और जहाँ भी नूतन जन्म धारण करूँ वहाँ अपने परम प्रियतम, परम प्रेमास्पद श्रीभोलेनाथको ही पतिरूपमें प्राप्त करूँ। केवल उन्हें पतिरूपमें ही न प्राप्त करूँ अपितु उनके श्रीचरणोंमें ही मेरा मन अनुराग करे।

सती मरत हरिसन बर माँगा। जनम जनम सिव पद अनुरागा॥

धन्य है श्रीसतीके शुभाभिलाषको ! धन्य है प्रियतममें उनकी अदोष-दर्शनकी भावनाको ! धन्य है पतिके श्रीचरणोंमें उनकी अटूट भक्तिको ! धन्य है उनके बलिदानपूर्ण जीवनको ! धन्य है महासती सतीका सतीत्व !!

मधुर

बहुत दिनोंके वियोगके अनन्तर प्रतीक्षा करते-करते एक दिन भगवान् श्यामसुन्दर पधारे। श्रीराधाजी एकान्तकुञ्जमें बड़ी वेदनाका अनुभव करती बैठी थीं। इतनेमें ही उनको प्राणप्रियतम प्राणेश्वर भगवान् श्रीमाधव आते दिखायी दिये। वे कैसे थे और उन्हें देखते ही क्या हुआ—

मंद मंद मुसकावत आवत।
देखि दूर ही तें भइ बिह्वल
राधा मन आनँद न समावत॥
नव नीरद घनस्याम-कांति कल
पीत बसन बर तन पर सोभित।
मालति-कमल-माल उर राजत
भँवर-पाँति मँडरात सुलोभित॥
सकल अंग चंदन अनुलेपित
रत्नाभरन बिभूषित सुचि तन।
सिखा सुसोभित मोर पिच्छ, मनि-
मुकुट सुमंडित, केस कृष्नघन॥
मुख प्रसन्न मुनि-मानस-हर, मृदु-
हास्य छटा चहुँ ओर बिखेरत।
चित्त-बित्त-हर लेत निमिष महँ
जा तन करि कटाच्छ दृग फेरत॥
मुरली क्रीड़ा-कमल प्रफुल्लित
लिये एक कर, दूजे दरपन।
देखि राधिका, करन लगी निज
पुनः पुनः अर्पित कौ अरपन॥

वे मन्द-मन्द मुसकराते हुए आ रहे हैं, दूरसे ही उन्हें देखकर राधाजी आनन्द-विह्वल हो गयीं, उनके मनमें आनन्द समा नहीं रहा है। नवीन जलदके समान सुन्दर घनश्याम कान्ति है, शरीरपर पीताम्बर शोभा पा रहा है। हृदयपर मालती और कमलपुष्पोंकी मालाएँ हैं, जिनपर रसलोभी भ्रमरोंकी पंक्तियाँ मँडरा रही हैं। समस्त अङ्ग चन्दनसे अनुलिप्त हैं। सारा पवित्र शरीर रत्नोंके आभूषणोंसे विभूषित है। शिखापर मोरपिच्छ सुशोभित है, सिरपर मणियोंका मुकुट शोभा पा रहा है तथा काले घने केश हैं। मुनियोंके मनको हरण करनेवाला प्रसन्न मुख है, वे अपने मृदु मुसकान-की छटाको सब ओर बिखेर रहे हैं। जिसकी ओर भी कटाक्षपात करते हुए नेत्र फिरा देते हैं, उसके चित्तरूपी धनको एक ही निमेषमें लूट लेते हैं। एक हाथमें मुरली तथा प्रफुल्लित क्रीड़ा-कमल है और दूसरेमें दर्पण लिये हैं। श्रीराधिकाजी इस रूपछटाको देखकर (मुग्ध हो गयीं और) स्वयंको, जो उनको नित्य अर्पित हैं, बार-बार अर्पण करने लगीं।

उमग्यो परमानंद निधि, राधा भई बिभोर।
भूमि परत, दै कर-कमल, लई उठाय किसोर॥

राधाके हृदयमें परम आनन्दका समुद्र उमड़ आया और वे उसमें निमग्न हो गयीं। अचेतन होकर भूमिपर गिरने लगीं कि नित्यकिशोर श्यामसुन्दरने अपने करकमलोंसे उन्हें उठा लिया।

चरन पकरि बैठी निकट, निकसत नहिं मुख-बैन।
कछुक काल महँ धीर धरि, बोली—सुनु! सुख-ऐन॥

वे चरण पकड़कर समीप बैठ गयीं, पर मुखसे वचन नहीं निकल रहे हैं। कुछ देर बाद धैर्य धारण करके बोलीं—मेरे सुखसदन! सुनो!

निरखि मुखचंद्र तुम्हारौ नाथ!
भयौ जनम जीवन मेरो यह
सार्थक धन्य सनाथ॥
भये प्रसन्न सफल मेरे ये
जुगल नयन, सब अंग।
उछलि रह्यौ मन आनंदाम्बुधि
बिबिध बिचित्र तरंग॥
पाँच परान प्रेमरस भींगे,
आत्मा उमड़्यौ नेह।
जरत बिरह-पावक अति भीषन
बरस्यो अमरित-मेह॥
डारि पियूष बरषिनी द्रष्टी
मो तन, मेट्यौ ताप।
भर्‌यौ सुधा-सागर उर अंतर
सीतल सुखद अमाप॥

नाथ! तुम्हारा मुखचन्द्र निरखकर मेरा यह

जन्म—मेरा जीवन सार्थक, धन्य और सनाथ हो गया। मेरे ये दोनों नेत्र और सारे अङ्ग आज प्रसन्न और सफल हो गये। मेरे मनमें आज आनन्दका समुद्र उछल रहा है जिसमें विविध प्रकारकी विचित्र तरङ्गें खेल रही हैं। मेरे पञ्चप्राण प्रेमरससे आर्द्र हो गये हैं और मेरे आत्मामें स्नेह उमड़ आया है। अत्यन्त भीषण विरहानलसे जलती हुई मुझपर अमृतकी वर्षा हो गयी है। आपने मेरी ओर अपनी पियूषवर्षिणी दृष्टि डालकर मेरे संतापको मिटा दिया है और मेरे अन्तरमें शीतल सुखद असीम सुधासागर भर दिया है।

रहते तुम्हरे ढिंग यह मेरी सुंदर देह पवित्र।
सोभा-सुषमामयी रहत नित सक्ति-सुरूप बिचित्र॥
रहूँ सिवा, सिवदा, सिवबीजा, सिवस्वरूपा नित्य।
बनी रहूँ मैं प्रियतम! तुम्हरे संग सुमतिमयि सत्य॥
पलक एक तुम्हरे बिछुरत ही होय सकल सुभ-नास।
सक्ति, सुमति, सुषमा, सुंदरता, सुद्धि, मधुर-आभास॥
बिनसत सकल तुरत, मुर्दा ज्यों धरनी पर्यौ सरीर।
सिव बिहीन, अति दीन, दुःखमय दारुन बिकल अधीर॥
यह सब समुझि, प्रानबल्लभ! अब मति बिछुरौ पल एक।
परम उदार! निबाहौ प्रियतम! प्रीति-रीति की टेक॥

नाथ! जब तुम पास रहते हो तो मेरी यह देह सुन्दर, पवित्र, शोभा-सुषमामयी तथा नित्य विचित्र शक्तिस्वरूपा बनी रहती है। प्रियतम! तुम्हारे साथ रहनेपर मैं सचमुच ही शिवा, शिवदा, शिवबीजा, शिवस्वरूपा तथा सुमतिमयी बनी रहती हूँ; परंतु तुम्हारे एक पलके लिये बिछुड़ते ही मेरे ये सारे शुभ नष्ट हो जाते हैं। शक्ति, सुमति, सुषमा, सुन्दरता, पवित्रता और मधुर आभास सभी तुरंत विनष्ट हो जाते हैं। शवकी भाँति पृथ्वीपर शरीर पड़ा रहता है। उस समय मैं शिवरहित (अकल्याणमयी), अत्यन्त दीन, दारुण दुःखमयी, व्याकुल और अधीर हो जाती हूँ। यह सब समझकर हे प्राणवल्लभ! अब एक पलके लिये भी मत बिछुड़ो और हे परम उदार! प्रियतम! प्रीतिकी रीतिके टेकका—प्रणका निर्वाह करो।

सुनि राधाके बैन, प्रीति-दीनता तें सने।
भरि आये दोउ नैन, बोले हरि बच मधुर सुचि॥

श्रीराधाजीके प्रेम तथा दैन्यसे सने वचनोंको सुनते ही श्रीश्यामसुन्दरके दोनों नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छलक आये। फिर वे मधुर पवित्र वचन बोले—

राधा! हम तुम दोउ अभिन्न।
बारि-बीचि, चंद्रमा-चाँदनी सम अभिन्न नित भिन्न॥
नित्य सत्य सर्वदा सर्वथा रहूँ तुम्हारे संग।
आठों पहर संग सँग डोलूँ, भर्यौ रहूँ अँग अंग॥
मो बिनु तुम्हरी कछू न सत्ता तुम बिनु मैं नाचीज।
समुझि न परत रहस्य रंच हू, को तरुवर, को बीज॥

राधिके! हम तुम दोनों अभिन्न हैं। जल-तरङ्ग और चन्द्र-ज्योत्स्नाके समान नित्य भिन्न दीखते हुए भी अभिन्न हैं। मैं नित्य सत्य रूपसे ही सर्वदा सर्वथा तुम्हारे साथ रहता हूँ, आठों पहर ही तुम्हारे साथ-साथ फिरता हूँ, इतना ही नहीं, तुम्हारे अङ्ग-अङ्गमें भरा रहता हूँ—समाया रहता हूँ। मेरे बिना तुम्हारी कुछ भी सत्ता नहीं है और तुम्हारे बिना मैं भी कोई वस्तु नहीं हूँ। यह रहस्य तनिक भी समझमें नहीं आता कि हम दोनोंमें कौन वृक्ष है और कौन बीज?

बिरह-मिलन दोउ रस हम दोउन के हैं लीला-साज।
एक नित्य रस बिबिध रूप धरि क्रीड़त सहित समाज॥
नित्य, एक ही नित अनेक सजि करत बिचित्र बिहार।
नित अनादि, आरंभ न कबहूँ, कबहुँ न उपसंहार॥
बिछुरन-मिलन तुम्हारौ मेरौ, नित्य मिलन के माँहि।
जा बिछुरनमें मिलन मनोहर, सो तो बिछुरन नाहिं॥

विरह (विप्रलम्भ) और मिलन (सम्भोग) दोनों ही रस हम दोनोंकी लीलाके ही उपकरण हैं। वस्तुतः एक ही नित्यरस विविध रूप धारण करके लीलासमाजके साथ क्रीड़ा कर रहा है। नित्य एक ही रसतत्त्व नित्य अनेक सजकर विचित्र विहार कर रहा है। यह नित्य विहार अनादि है, इसका न कभी आरम्भ है और न कभी उपसंहार। तुम्हारा और मेरा

यह बिछुड़ना-मिलना नित्य मिलनके ही अन्तर्गत है । जिस बिछुड़नेमें मनोहर मिलन होता है, वह बिछुड़ना नहीं है ।

मेरे रस तें तुम रसमयि, मैं तुम्हरे रस रसवान ।
एक स्व-रस कौं द्विविध भेद तें करैं नित्य हम पान ॥
रस, रसपान, रसिक, रसदाता—एक परम रसरूप ।
परमाश्चर्य, अचिंत्य अनिर्वचनीय अगम्य अनूप ॥
कबहुँ न कतहुँ तुम्हारौ-मेरौ पलक बिछोह-बियोग ।
नित्य सत्य अनिवार्य अलौकिक अविच्छेद्य संयोग ॥
प्रिये ! न तोहि स्वरूपकी विस्मृति, नहीं कबहुँ कछु खेद ।
एक परम रस सरिताके ही वे तरंगमय भेद ॥

मेरे रससे तुम रसमयी हो और तुम्हारे रससे मैं रसवान् हूँ । (तुम्हारा-मेरा एक ही रस है) एक ही अपने ही रसको दो प्रकारके भेदोंसे हम दोनों नित्य पान करते हैं । यह रस, रसपान, रसिक, रसदाता—सब एक ही परम रस-रूप हैं और वह परमाश्चर्यमय, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय, अगम्य और अनुपम रस है । तुम्हारा और मेरा कभी कहीं पलभर भी विछोह या वियोग नहीं है । हमारा यह नित्य, सत्य, अनिवार्य, अप्राकृतिक तथा अटूट संयोग है । प्रियतमे ! न तो तुम्हें कभी स्वरूपकी विस्मृति है, न कभी कुछ खेद ही है । ये तो एक ही परम रस-सरिताके तरङ्गमय भेद हैं ।

दोनों आप्यायित भये, मिले दिव्य रस-रीति ।
महाभाव रसराज की अतुल अकल यह प्रीति ॥

तदनन्तर दोनों ही (श्रीराधा-माधव) आप्यायित होकर दिव्य रसकी रीतिके अनुसार मिले । महाभाव (श्रीराधा) और रसराज (श्रीश्यामसुन्दर) की यह प्रीति सर्वाङ्गपूर्ण और अतुलनीय है ।

आत्महत्या करनेवाले मूर्ख कष्टमय रौरव नरकके कष्ट भोगते हैं

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

आप आश्चर्य करेंगे, हमारे देशमें प्रतिवर्ष अठारह लाख अपराध होते हैं । पंद्रह हजारसे सतरह हजार व्यक्ति मानसिक रोगों या उत्तेजनाओंसे ग्रसित होकर आत्महत्याएँ करते हैं । आत्महत्या करनेवालोंमें निराश युवक और कलहसे परेशान युवतियोंकी संख्या सबसे अधिक है ।

मनुष्यने द्रुतगतिसे भौतिक और वैज्ञानिक उन्नति की है; आराम और चिकित्साकी बड़ी-से-बड़ी सुविधाएँ हमारे पास हैं, फिर भी १५ से १७ हजार व्यक्ति जान-बूझकर स्वयं अपनी हत्याएँ कर डालते हैं । इससे बड़े दुर्भाग्यकी बात क्या हो सकती है ?*

एक उदाहरण लीजिये—

लगभग १७ लाखकी जनसंख्यावाले आगरा नगर एवं जिलेमें हर चौबीस घंटोंमें आत्महत्याकी एक दुःखद घटना हो जाती है । एक वर्षकी ३६९ घटनाओंकी रिपोर्ट विभिन्न स्थानोंपर की गयी थी । इनमें १३७ स्त्रियाँ थीं, शेष पुरुष ।

१८ से २५ वर्षतककी आयुके कच्चे अविकसित मन तथा आगा-पीछा न सोचनेवाले युवक-युवतियाँ आत्महत्यासे ग्रसित पाये गये । कुछ बड़े व्यक्ति भी मन-ही-मन आत्महत्याकी बातें सोचा करते हैं ।

आत्महत्याके विचार एक मानसिक रोग हैं

जिन व्यक्तियोंके मनमें आत्महत्याकी कायरतासे भरे विचार आया करते हैं, वे एक प्रकारके मानसिक रोगी हैं । ये रोगी आधे पागल, उत्तेजक स्वभावके,

* भौतिक सुख-सुविधाओंकी प्रबल लालसाको लेकर जितना ही मनुष्य असंयमी, असहिष्णु और असंतुष्ट होगा, उतना ही आत्महत्याकारियों और उन्मादके रोगियोंकी संख्या बढ़ेगी । संतोषके बिना कदापि इसमें रुकावट नहीं आयेगी । इसीसे सबसे अधिक सुखसुविधासम्पन्न अमेरिकामें आत्म-हत्यारों और पागलोंकी संख्या सबसे अधिक है ।

चिड़चिड़े या स्नायविक तनाव (न्यूरोसिस) के शिकार होते हैं। कुछ वृद्ध सदा मानसिक तनाव और अधिक दिमागी श्रम करने या आर्थिक हानिसे परेशान होकर आत्महत्या कर बैठते हैं।

कहीं आपके मनमें भी तो आत्महत्याके घृणित डरपोक विचार नहीं आते हैं? क्या आप भी जीवनसे परेशान हैं, ऊबे हुए हैं और शायद उसमें कुछ रस, सौन्दर्य या आकर्षणका अनुभव नहीं करते हैं?

आप शायद बेरोजगारी और आर्थिक तंगीसे परेशान हैं! नौकरी नहीं लग रही है, व्यापार करना नहीं आता, गरीबीके कारण आपको मानहानि सहनी पड़ती है। आप एक दफ्तरसे दूसरे दफ्तरमें चक्कर काटते रहते हैं, पर कहीं सर्विस नहीं लगती। हाथ तंग है। घरवाले आपको परेशान किये हैं। हारकर आप जीवनका अन्त कर डालनेकी सोचते रहते हैं!

शायद आपके व्यापारमें घाटा आ गया है। दुबारा व्यापार सम्हलनेकी कोई आशा नहीं दीखती। उधार सारा मारा गया है और बाजारमें साख जाती रही है। कर्जके भारसे आप बुरी तरह परेशान हैं। इज्जत बचानेके लिये मरना ही आपको अच्छा दीखता है!

क्या आप किसी लंबी बीमारीसे व्यग्र और चिन्तित हैं? उस बीमारीसे तिल-तिल कर मरनेकी अपेक्षा एक बार ही जीवनका अन्त कर देनेकी बुरी बात आपके मनमें है?

आप पारस्परिक द्वेष, किसीसे शत्रुता, प्रतिशोध या और किसी पेंचदार मानसिक उलझन, घरेलू या पारिवारिक कलह या मानसिक कष्टमें फँसे हुए हैं? आपको कोई मानसिक आघात तो नहीं लगा है? आप अपनी कन्याका विवाह नहीं कर पा रहे हैं या लड़कोंकी आवारागर्दीसे परेशान रहते हैं?

शायद आप अनजानेमें कोई गुप्त पाप कर बैठे हैं। किसी घृणित कार्यमें पकड़े गये हैं। मुकदमा चल रहा है। उससे घबराकर पेंचीदी बातको न सुलझा सकनेके कारण आत्महत्याकी बात सोचते हैं!

शायद आप कोई विद्यार्थी हैं। आप किसी परीक्षामें फेल हो गये हैं। कई बार फेल हुए हैं। घरवालोंके व्यंग बाणोंसे परेशान होकर मरनेकी बात सोचते हैं!

आप कदाचित् किसीसे प्रेम करते थे। उस प्रेममें निराश हो मानसिक आघात लगनेसे आत्महत्याकी अधार्मिक बातें सोचा करते हैं!

आपके कष्ट क्षणिक हैं

जीवनमें एक नहीं, कष्ट और मानसिक पीड़ाएँ तरह-तरहके रूप और ढंग रखकर प्रतिदिन प्रतिपल हमारे मानस-क्षितिजपर उदित हुआ करती हैं। जितने मनुष्योंके रूप, मानसिक संस्थान, गुण, कर्म और स्वरूप हैं, उतने ही प्रकारके कष्ट और झंझटोंका क्रम निरन्तर चलता रहता है। विपत्ति किसपर नहीं आयी? कष्टोंने किसको नहीं पीसा है? मुसीबतके काले-काले भयंकर बादल किस मानवपर नहीं मँडरा रहे हैं? तनिक आकाशको ही देखिये। अभी यह स्वच्छ है, नीला-नीला, लेकिन क्षणभर पश्चात् न जाने कहाँसे काले बादल आकर छा जाते हैं। चारों ओर अंधकार-ही-अंधकार फैल जाता है। आँधी, तूफान, वर्षा, वज्रपात सभीका डर हो जाता है।

किंतु फिर आँधी रुकती है। तूफान कम हो जाता है। काले बादल जिधरसे आये थे, फिर कहीं गायब हो जाते हैं। आकाश फिर स्वच्छ है।

यही हाल मानव-जीवनका है। विपत्तियाँ आती हैं। मनुष्य तनिक-सी परेशानीसे मजबूर हो जाता है। यही समझता है कि बस, अब अन्त आ गया। अब बचनेकी कोई भी आशा नहीं है। लेकिन वे कष्ट, वे

विषम समस्याएँ, वे विवशताएँ, वे जटिल गुत्थियाँ समय पाकर खुद दूर होने लगती हैं।

ईश्वर नहीं चाहता कि मनुष्य व्यर्थके छोटे-छोटे कष्टोंसे उद्विग्न बना रहे। वह तनिक-सा दुःख डालकर हमारे धैर्य और सहनशीलताकी परीक्षा लिया करता है। कमजोर व्यक्ति ही जल्दी निराश होते हैं।

आप हीन नहीं, महान् आत्मा हैं

आप कमजोर नहीं हैं। दीन-हीन और निर्बल संकल्पवाले नहीं हैं। सांसारिक कठिनाइयाँ आपको कभी पस्त नहीं कर सकेंगी। यह मनमें जो चिन्ताकी धधकती अग्नि लिये बैठे हैं, यह आग जो आपको जलाये डाल रही है, इसे तुरंत बुझा डालिये।

विश्वास कीजिये, कल-परसोंतक आपकी ये विकट समस्याएँ स्वतः ही हल होनेवाली हैं। बस, एक-दो दिनके लिये और रुक जाइये। परिस्थितियोंको खुद सुलझने दीजिये। ईश्वरके हाथ बहुत लंबे हैं। वे सहायताके लिये, आपकी समस्याओंको सुलझानेके लिये दौड़े आ रहे हैं।

यह जिंदगी जीने योग्य है। इसमें मिठास है। कड़वाहट तो थोड़े ही दिनोंकी है। क्या आपने यह महान् उक्ति सुनी है—

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे॥
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः।
(अथर्व ५। ३०। १७)

अर्थात् हे मनुष्यो! यह संसार देवताओंका प्यारा लोक है। यहाँ भला पराजयका क्या काम? तुम समझते हो, तुम मौतके प्रति संकल्पे जा चुके हो, यह बात नहीं है। हम उसे सुनाते हुए तुम्हें वापिस बुलाते हैं। बुढ़ापेसे पहले मरनेका नाम कभी मत लो।

अपनी समस्त कठिनाइयोंके बावजूद यह मनुष्यका जीवन यश और सौन्दर्यसे भरा है, हर प्रकार जीने योग्य है।

आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ (ऋ० १०। ५७। ४)

अर्थात् (कायर मत बनो) उठो, होश सम्हालो। फिर सोच-विचारको, कर्म-कौशलको, जीवनको चेतो। अभी तुम्हें चिरकालतक सूर्य भगवान्‌के दर्शन करते रहना है।

वास्तवमें अनेक युगोंके पुण्य-फलोंके कारण तुमको यह देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। मानव-जीवन पाकर उसे भव्य उद्देश्योंमें लगाना चाहिये। इस देहमें ईश्वर बसते हैं। याद रक्खो—

आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्।
(मनु० ४। १३७)

अर्थात् जबतक यह मानव-जीवन है, ऐश्वर्यकी कामना करनी ही उचित है।

दूसरोंके लिये जीवन धारण कीजिये

अपने लिये जिओ। अपने परिवारके लिये शरीर धारण करो। यदि परिवार न हो तो पीड़ित और दुःखित मानवताके दुःखोंके निवारणके लिये जिओ। संसार तुम्हारा सहारा चाहता है।

याद रक्खो—आत्महत्याका विचारतक पाप है। बुद्धिकी दुर्बलता है, बहुत बड़ी कायरता है। तुम्हारे बुद्धि-बलका प्रयोग जीवनको सशक्त और यशस्वी बनानेमें व्यय होना चाहिये। जो अपनी स्वयं हत्याकी बात सोचते हैं, वे अपने साथ बड़ा भारी अन्याय करते हैं।

नीतिका वचन है—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।

जिसमें सद्‌बुद्धि है, उसीमें सच्चा बल है। उसीमें जीवन है। निर्बुद्धिमें बल कहाँसे आया?

अधिकतर आत्महत्याएँ अकस्मात् उत्तेजना और क्रोध-जैसे पाशविक विकारोंके दुष्परिणाम हैं। मनुष्य आवेशमें आकर हतबुद्धि हो जाता है, विवेक काम नहीं करता, तनिक-सी भी कड़वी बात सहन नहीं होती और कलहका विष पचाये नहीं पचता। इसका कुफल आत्महत्या होती है। **'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।'**

हमें क्रोधके समय बहुत सावधान हो जाना चाहिये कि कहीं हम अन्धाधुन्ध बुरा कार्य न कर बैठें। मानसिक आवेगको तुरंत रोकना ही परम पुरुषार्थ है। क्षणिक उत्तेजनामें कोई भी कार्य न करें। कुछ रुकें, जबतक आपका मानसिक संतुलन ठीक न हो जाय, अत्यधिक क्रोध, चिन्ता, ईर्ष्या, शोक, भय-जैसी कोई भी अस्वस्थ मानसिक अवस्था हमेशा आपको खतरनाक मनःस्थितिमें डालती है। इस विषैली स्थितिसे सदैव बचिये।

मङ्गलमय प्रभुके विधानमें आपके लिये सब कुछ है। ठहरिये, अच्छा समय आपको ढूँढ़ता भागा चला आ रहा है। आपका जीवन प्रभुका दिया हुआ दैवी वरदान है। उसे समयसे पूर्व हत्या कर समाप्त करनेका आपको कोई अधिकार नहीं है। जो समयसे पूर्व उसे नष्ट करते हैं, उनके लिये सबसे अधिक कष्टमय रौरव नरकका विधान है।

मनुष्यके स्थूल-सूक्ष्म शरीर

(लेखक—श्रीनिरञ्जनदासजी 'धीर')

मानवको ज्ञान उसकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंसे ही प्राप्त होता है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ एक विशेष सीमित माध्यममें ही कार्य कर सकती हैं। उदाहरणार्थ—आँख एक निश्चित तीव्र प्रकाशके ऊपर नहीं देख सकती—चौंधिया जाती है और नीचे भी एक निश्चित स्तरके पीछे इसको कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जब यह कहा जाता है कि अन्धकारके कारण कुछ दिखायी नहीं देता, प्रकाश तब भी होता है, जिसमें बिल्ली, चूहे आदि जीव अपना काम निर्विघ्न करते रहते हैं। यही बात श्रोत्रेन्द्रिय (कान) की है। ऊपर इतने जोरका धमाका हुआ कि कान बहरे हो गये और नीचे इतना मन्द बोलता है कि कुछ सुनता ही नहीं। यही दशा अन्य इन्द्रियोंकी है। इससे स्पष्ट है कि मानव-इन्द्रियाँ जिस संसारका अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं, उसीको हम स्थूल संसार कह सकते हैं।

इस स्थूल संसारके ऊपर तथा नीचे भी संसार है, किंतु वह हमारा इन्द्रियग्राह्य नहीं; इसलिये हम कह देते हैं कि उसका अस्तित्व ही नहीं है; किंतु ऐसी घटनाएँ सभी देशोंमें—न्यूयार्कमें भी तथा देहलीमें भी हो जाती हैं कि किसी मकानमें पत्थर पड़ने लगते हैं, कहीं वस्तुएँ उठायी जाती हैं, किंतु उनको कौन फेंकता अथवा उठाता है—यह दीखता नहीं। यह सब इसीसे नहीं दीखता कि वह सूक्ष्म होनेके कारण हमारा इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। सभी देशोंमें, सभी कालोंमें सदासे मृत आत्माओंसे मनुष्यका सम्पर्क होता चला आया है। पर उनका संसार प्रायः हमारी इन्द्रियोंके अगोचर होता है। इसलिये कहा जाता है कि यह केवल ढकोसला—बहम या भ्रम ही है। यद्यपि ठगलोग स्वार्थवश बहुत झूठी बातें भी गढ़ते हैं, पर वैसा तो सभी क्षेत्रोंमें होता है। ठगोंके कारनामोंसे सत्य सिद्धान्त नहीं मिटता। इन सारी घटनाओंको देखनेयोग्य आँखें हमारे पास नहीं हैं। यदि किसी युक्तिसे हमारे चक्षुको उस संसारके उपयुक्त बना दिया जाय तो हम उसको देखकर चकित रह जायँगे। एक प्रत्यक्ष घटना, जिसको मेरे पूज्य पिताजीने

देखा था, मुझे याद आ गयी। सुलतानपुर-लोधी पंजाबमें एक गिरि-संन्यासी महात्माओंका मठ है। एक पाँच-छः वर्षके बालकको उसके माता-पिताने महंतजीके अर्पण कर दिया। उन्होंने उसको काषाय वेष दे दिया और वह महंतजीकी सेवामें रहने लगा। बालक तो बालक ही रहता है, वह अपने समवयस्क बालकोंके साथ साँझको पासके मुहल्लेमें खेलने चला जाता। एक दिन वह रोता हुआ महंतजीके पास आया और कहने लगा कि मुहल्लेके बालक उसको अपने साथ नहीं खिलाते और कहते हैं कि 'हम साधुको साथ नहीं खिलावेंगे।' महंतजीने उसको पुचकारा और जाने क्या कर दिया कि उसका सूक्ष्म जगत्में प्रवेश हो गया और वह वहाँके बालकोंके साथ कबड्डीका खेल बड़े आनन्दसे खेलने लगा। देखनेवालोंके लिये तो वह अकेला ही खेलता था, किंतु उसको उस जगत्के बालक स्पष्ट दीखते थे, जिनसे वह बातें करता, हँसता और झगड़ता भी था।

हमारे शास्त्रोंने मनुष्यके कई शरीर माने हैं—जिनमें तीन मुख्य हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। ये तीनों शरीर तीन लोकों—भूः, भुवः तथा स्वःमें काम करनेके लिये प्रभुने दिये हैं।

स्थूल शरीरको तो हम जानते ही हैं, किंतु सूक्ष्म तथा कारण शरीरोंका प्रायः हमें ज्ञान नहीं है। सूक्ष्म शरीरका एक सर्वोत्कृष्ट भाग ऐसा है जिसके बिना हमारे स्थूल शरीरका व्यक्तित्व ही नहीं रह जाता। यह है अन्तःकरण, जिसके चार भाग मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार माने जाते हैं। अन्तःकरण सूक्ष्म शरीरका भाग होनेसे साधारणतः देखा नहीं जा सकता। किंतु जिन योगियोंने गुरूपदिष्ट मार्गसे शिवनेत्र अथवा तीसरा नेत्र जो भ्रुकुटीमें स्थित है खोल लिया है, उनको दूसरोंके अन्तःकरणमें जो कुछ हो, वह दीखने लगता है। वे कहते हैं कि विचारोंके भी पृथक्-पृथक् रंग होते हैं। जिस मनुष्यके जैसे विचार होते हैं, वैसा ही रंगावरण उस मनुष्यके स्थूल शरीरके चारों ओर फैला होता है। विचारका सबसे बड़ा केन्द्र सिर है, इसलिये सिरके चारों ओर यह रंगावरण बहुत गहरा और अधिक दूर-तक फैला होता है। इसको अंग्रेजीमें औरा (Aura) कहते हैं और सभी अवतारी पुरुषोंके तथा महात्माओंके चित्रोंमें उनके सिरके चारों ओर एक गोल प्रकाशमय वृत्तके रूपमें दिखलाया जाता है। जिन संत-महात्माओंका मन निर्मल हो जाता है और जिनका नित्यलीलामें प्रवेश हो जाता है, उनमें भी दूसरे मनको पढ़-समझ लेनेकी शक्ति अपने-आप आ जाती है—ऐसा मानते हैं।

सूक्ष्म शरीर भी स्थूल शरीरके अनुरूप ही होता है। इसमें स्थूल पञ्चभूतात्मिका प्रकृतिका अंश न रहनेसे भार नहीं होता और इसको पोषणके लिये स्थूल भोजन आदिकी आवश्यकता नहीं होती। विचारकी शक्ति अप्रतिहत रूपसे काम करती है, इसलिये इसके आने-जानेमें समय नहीं लगता। दिल्लीमें बैठे लन्दनका विचार करनेसे ही उसी समय वहाँ पहुँचा जा सकता है। स्थूल पञ्चभूतात्मिका प्रकृति भी इसकी गतिविधिमें कोई बाधा नहीं डाल सकती। लोहेके मोटे बक्समें रक्खी पुस्तक पढ़ी जा सकती है।

स्थूल शरीरकी मृत्यु क्या है? जब जीव यह अनुभव करता है कि जरा-व्याधि तथा किसी अन्य दुर्घटनाके कारण स्थूल शरीर अपना कार्य करनेमें असमर्थ हो गया है तो स्थूल शरीरको सूक्ष्म शरीर छोड़ देता है। इसीका नाम मृत्यु है। अन्तःकरण तथा कारणशरीरसहित जीवात्मा सूक्ष्म शरीरमें ही होता है, इसलिये उसका व्यक्तित्व वहीं रहता है। देवदत्त यही अनुभव करता है कि वह देवदत्त है। मृत्युसे उसमें कुछ भी अन्तर नहीं आता।

इस विषयके कई विद्वानोंका यह मत है कि स्थूल शरीरमें रहते हुए भी स्वप्नावस्थामें सूक्ष्म शरीर पृथक् होकर लोकलोकान्तरोंमें जा सकता है । स्थूल शरीरके सहस्रारचक्रसे एक विचित्र डोरी जो सूक्ष्म शरीरके सिरसे जुड़ी होती है, बढ़ती रहती है किंतु टूटती नहीं। उसके सहारेसे ही सूक्ष्म शरीर सहस्रों मील दूर होनेपर भी पुनः स्थूल शरीरमें प्रवेश कर लेता है। पिछली शताब्दीके अन्तमें जब अंग्रेज दक्षिणी अफ्रीकामें बोर लोगोंके साथ युद्ध कर रहे थे, तो एक अंग्रेज अफसर मोतीझरा (Typhoid) से पीड़ित फौजी अस्पतालमें भरती था। वह कई दिनोंतक यह प्रत्यक्ष अनुभव करता रहा कि वह ज्वरसे संतप्त शरीरको छोड़कर एक सुखप्रद दशामें चला जाता है और जब नर्स (Nurse) उसको भोजन तथा ओषधि देनेके लिये आती है तो उसे बरबस फिर उसी शरीरमें आकर कष्ट भोगना पड़ता है। १९१४–१८ के महायुद्धमें भी एक अंग्रेज सिपाहीने, जो एक दिन फ्रांसकी लड़ाईकी खाईमें खड़ा था, यह अनुभव किया कि वह उस स्थूल शरीरसे जो बीसों मील चलकर थककर चूर-चूर हो गया था, जिसको न सोना, न खाना-पीना मिला था। जहाँ खाईमें दो इंच सूखी भूमि बैठनेको नहीं थी, उसके सभी कपड़े वर्षासे भीग गये थे। वह ठंडी वायुसे थर-थर काँप रहा था, छोड़कर अलग हो गया है और असीम सुख-शान्तिका अनुभव कर रहा है।

हमारे भारतमें योग तथा आध्यात्मिक साधनसे संत-महात्माओंमें ऐसी शक्ति आ जाती है कि वे स्वाभाविक अवस्थामें भी सूक्ष्म शरीरसे जहाँ चाहें जा सकते हैं।

सभी प्रकारकी ईश्वरीय शक्तियोंका केन्द्र आत्मा सूक्ष्म शरीरमें ही होता है। इसलिये यह सूक्ष्मशरीरसे जो अदृष्ट होता है, प्रकट भी हो सकता है। मृत्युके पश्चात् जीव पितृलोकमें चला जाता है और ऐसे पितृलोकनिवासी कुछ जीवोंमें ऐसी शक्ति होती है कि वे अपनी इच्छासे तथा कोई विशेष कार्यके लिये स्थूल शरीर भी धारण कर सकते हैं। श्रीएकनाथ महाराज-के यहाँ श्राद्धके दिन ब्राह्मणोंने भोजन करनेसे इन्कार कर दिया। तब उन्होंने अपने पितरोंका आवाहन किया और पितरोंने आकर भोजन किया। यह एक ऐतिहासिक घटना है।

इस युगमें पश्चिममें ऐसी सहस्रों घटनाएँ आध्यात्मिक मानकर लिपिबद्ध हो चुकी हैं कि पितृलोकसे आत्माएँ माध्यम (medium) के द्वारा तथा बिना माध्यम—प्रकट हुई हैं और उन्होंने अपने पार्थिवरूपमें दर्शन दिये हैं। हमारे भारतमें केवल दस वर्ष पहिलेकी घटना है जो कि मराठी पत्र 'पुरुषार्थ' के एक अङ्कमें छपी थी।

आँखोंके विशेषज्ञ डाक्टर श्रीएस्० एस्० अजगाँवकर (Ajagaonkar) बंबईमें निवास करते हैं। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती ललिताबाई, जो कि धार्मिक प्रकृतिकी महिला थी, कैंसर रोगसे ७ जून १९५२ को मृत्युको प्राप्त हुई और उसके शरीरका दाह-संस्कार कर दिया गया। पचीस वर्षसे वह वट-पूर्णिमाका व्रत एकनिष्ठासे करती आयी थी और उसकी मृत्यु भी पूर्णमाको हुई थी। इसलिये वह व्रतका पारण नहीं कर सकी। उसके भाई श्रीआर्० जी सामन्त बंबई हाईकोर्टके एडवोकेट थे। दूसरी रात ललिताबाई अपने भाईके घर पहुँची और उनसे कहने लगी कि व्रतका पारण करनेके लिये एक काफीका कप बना दो। अपनी मृत बहिनको स्थूल शरीरमें देखकर वे सकपका गये। उनको अपनी आँखों-पर विश्वास नहीं होता था। उन्होंने अपने शरीरकी कई बार चुटकी ली कि वे स्वप्न तो नहीं देख रहे हैं। फिर उन्होंने बहिनका स्वागत किया—हाथ पकड़कर उसे पलंगपर बैठा दिया और उसके इच्छानुसार वे काफीका कप तैयार करने लगे। उस दिन वे घरमें

अकेले ही थे। काफीके लिये दूध नहीं मिल रहा था। दूध कहाँ है, यह ललिताबाईने बता दिया और श्रीसामन्तजीने काफीका कप बनाकर अपनी बहिनको दिया। उत्तरमें उसने कहा कि 'मेरे व्रतका पारण पूर्ण हो जायगा यदि यह काफीका कप वे स्वयं ग्रहण कर लेंगे।' यह कहकर उसने आशीर्वाद दिया और अदृश्य हो गयी।

श्रीसामन्तजीके कोई संतान नहीं थी और उनके संतान होना असम्भव था; क्योंकि उनकी धर्मपत्नीकी जननेन्द्रिय बालोचित न थी और उनकी आयु चालीस वर्षकी हो चुकी थी। इनकी बहिन स्वप्नमें इनके पास आती रही और कहती रही कि वह ईश्वरसे सदा ही प्रार्थना करती रहती है कि तुम्हें संतान प्राप्त हो। जब इनकी धर्मपत्नी एक बार मासिकधर्मसे नहीं हुई तो उनकी बहिनने स्वप्नमें आदेश दिया कि उसको डाक्टरको दिखावें। इन डाक्टरने पहले तीन बार उस महिलाकी परीक्षा की थी। वे अब यह देखकर दंग रह गये कि केवल जननेन्द्रिय ही बढ़कर साधारण नहीं हो गयी थी, उसमें गर्भ भी स्थित हो चुका था। गर्भकालमें उनकी बहिन स्वप्नमें उनसे कहने लगी कि वह स्वयं ही उनकी बालिकाके रूपमें उनके घर जन्म लेगी। इस बालिकाका जन्म यथासमय हुआ और उसका नाम भी ललिताबाई ही रक्खा गया। श्री बी० एम्० भटने, जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'योगसिद्धि और भगवत्साक्षात्कार' में यह वृत्तान्त लिखा है, उस कन्याको स्वयं देखा था।

जीवकी हमारे शास्त्रोंके अनुसार चार अवस्थाएँ मानी गयी हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। पश्चिमवालोंके मतानुसार केवल जाग्रत्-अवस्थामें ही ज्ञान प्राप्त होता है; किंतु बात ऐसी नहीं है। हमारी तीनों अवस्थाओंमें ही ज्ञान प्राप्त होता है। जाग्रत्-अवस्थामें स्थूल शरीरकी ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह जैसा पहले कहा जा चुका है, पूर्ण नहीं है; क्योंकि वे ज्ञानेन्द्रियाँ स्वयं एक सीमित माध्यममें ही काम कर सकती हैं। सूक्ष्म शरीर स्वप्नावस्थामें काम करता है, जिसके दो अथवा अधिक पृथक्-पृथक् क्षेत्र हैं। जब चेतना सूक्ष्म शरीर अर्थात् अन्तःकरणमें ही काम करती है, तब जो स्वप्न दीखते हैं वे जाग्रत्-अवस्थाके मनोराज्यके समान तत्त्वहीन होते हैं; किंतु जब सूक्ष्म शरीरका सम्पर्क अथवा गति सूक्ष्म-जगत्में होती है तो उनसे अतीन्द्रिय ज्ञान भी होता है। इस जगत्में भूत, भविष्यत्का बन्धन नहीं है, सभी वर्तमान है।

स्थूल शरीर अपनी ज्ञानेन्द्रियोंके सहित चारपाईपर पड़ा है, किंतु सूक्ष्म शरीर वहाँसे सहस्रों मील दूर हो रही घटनाओंको प्रत्यक्ष देख रहा है जैसा कि इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है—

कप्तान स्प्रूइट (Spruit "अताकाम्बा" नामक जहाजमें अपने कुछ साथियोंके सहित (२९ जनवरी १८९८ में) पत्थरका कोयला लादकर रवाना हुए। जहाजमें छेद हो गया और उसमें पानी भरने लगा। ७ फरवरीको जहाज डूबने लगा तो कप्तान और उसके साथी एक नावमें बैठ गये जो इधर-उधर ऐसे ही बहती रही। १६ फरवरीको इन्डस्ट्री नामक एक अन्य जहाजवालोंने इनको बचा लिया। १७ फरवरीको कप्तानकी तेरहवर्षीय कन्याने घरमें स्वप्नमें जहाजको प्रत्यक्ष डूबते और अपने पिताको फटे कपड़ोंमें घर आते देखा। उसने अपनी माताको जगाया और स्वप्न सुनाया। उसकी माताने कुछ ध्यान नहीं दिया और कन्याको सो जानेके लिये कहा; किंतु कन्याको चैन नहीं पड़ी। जब आठ दिनों बाद उसका पिता घर आया तो उसने कन्याके स्वप्नकी घटनाकी सत्यताको पूर्णरूपसे स्वीकार किया।

श्रीमान् डाक्टर डी० के० साठे बी० ए०, बी०एस-सी०, बैंक ऑफ महाराष्ट्र लिमिटेडके डायरेक्टर श्रीगणपति भगवान्के पक्के भक्त हैं। एक दिन प्रातःकाल स्वप्नमें उनसे किसीने कहा कि तुम श्रीगोंधलेकरके स्थानपर जाओ और उनसे रेशमी कपड़ेकी जिल्दवाली गणेश-गीता नामक पुस्तक खरीदो। यह पुस्तक उनके दूसरी मंजिलके कमरेमें सैल्फपर रक्खी पुस्तकोंमें तीसरी है। श्रीसाठेने पहले न तो कभी इस स्थानको देखा था और न इन महाशयको तथा इस पुस्तकको ही। उन्होंने जब यह स्वप्न अपने एक मित्रको सुनाया तो उन्होंने कहा कि 'चलो इसकी सत्यताकी जाँच करें।' दोनों मित्र पता लगाकर उस स्थानपर पहुँचे, उन महाशयसे मिले और प्रार्थना की कि गणेशगीताकी प्रति उनको बेंच दें। श्रीगोंधलेकर कहने लगे कि 'मेरे पास तो ऐसी कोई पुस्तक नहीं है; क्योंकि बहुत समय पहले ही जब मैंने अपना कारोबार बंद कर दिया था, तब सभी माल बेंच दिया था।' तब श्रीसाठेने स्वप्नकी बात कही और कहा कि हमें ऊपर ले चलिये और सैल्फपर भी एक दृष्टि डाल लीजिये। स्थानके स्वामी उनको ऊपर ले गये तो श्रीसाठेने अविलम्ब उस स्वप्नके दृश्यको सत्य देखकर नियत स्थानसे पुस्तकको उठा लिया। वे इस स्वप्नकी सभी बातें सत्य अनुभव करके बड़े प्रसन्न हुए; क्योंकि इससे अपने इष्टदेवका उनपर अनुग्रह भी प्रमाणित हो गया।

भविष्यमें जो होनेवाला है, उसका ज्ञान भी सूक्ष्म शरीर कभी-कभी स्वप्नमें प्राप्त कर लेता है। इसका उदाहरण प्रसिद्ध टीटानिक (Titanic) जहाजकी दुर्घटनाके सम्बन्धमें है। एक यात्रीने इस अभागे और समयके सबसे बढ़िया जहाजमें अपने लिये २३ मार्च १९१२ को स्थान सुरक्षित करा लिया। जहाज चलनेसे दस दिन पूर्व उसने स्वप्नमें देखा कि जहाज डूब गया है, उसका पैंदा ऊपर है और यात्री तथा मल्लाह पास तैर रहे हैं। अगली रातको फिर उसने वही स्वप्न देखा। उसने अपनी यात्रा स्थगित कर दी और टिकट रद्द करा दी। यद्यपि जहाज-कम्पनीका यह निश्चय था कि इस जहाजका डूबना असम्भव है। इस जहाजमें सात सौ व्यक्तियोंके प्राण गये थे।

ऐसे अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। स्वप्नावस्थाका अतीन्द्रिय ज्ञान स्थूल ऐन्द्रियिक ज्ञानसे कहीं उत्तम तथा स्थायी होता है। जो स्वप्न जागनेके थोड़े समय पश्चात् भूल जाते हैं वे प्रायः मनुष्यके अपने अन्तःकरणकी ही लीला होनेसे तत्त्वहीन होते हैं।

कारणशरीरका क्षेत्र 'सुषुप्ति' अवस्था है। पिछले जन्मोंके कर्मोंके सूक्ष्म संस्कारमात्र इसमें रहते हैं। आत्माको परमात्मासे पृथक् करना तथा व्यक्तित्वकी अभिव्यक्ति कराना—इसका मुख्य उद्देश्य है। सूक्ष्म अहंकार ही, जो यह अनुभव करता है 'मैं बड़े आरामसे सोया' इसका मूल है। जबतक इस शरीरका नाश नहीं होता, अहंकारका नाश नहीं होता तबतक विन्दुके सागरमें मिल जानेकी भाँति जीवकी मुक्ति नहीं होती।

आत्माका क्षेत्र तुरीयावस्था है जो अकथनीय है; केवल समाधिकी अवस्थामें जीवको इसका अनुभव होता है। यह सर्वोपरि अवस्था किसी बिरले भाग्यवान् अथवा नित्यसिद्ध या साधनसिद्ध महापुरुषोंको ही प्राप्त होती है।

विचार-बावनी*

(लेखक—श्रीकन्हैयालालजी दूगड़)

गहि[१] गुरु गणपति पाँव-
छाँह प्रेम तरु बैठकर ।
ले कमलापति नाँवँ[२]
कलम उठा, लिख 'कानियाँ' ॥ १ ॥

घणा[३] बणाया रूप-
एकज[४] बो बहुरूपियो ।
रुचै[५] भाव अनुरूप—
कोई किणनैं[६] 'कानियाँ' ॥ २ ॥

एकर[७] निरख सरूप—
प्रभु पर परवानो[८] हुयो ।
फँसै न फिर पर रूप—
कठैक फिरलै[९] 'कानियाँ' ॥ ३ ॥

पारस परस्यो[१०] लोह—
एक बार सोनो हुयो ।
फेर न बणसी लोह—
कठैक[११] फैंको 'कानियाँ' ॥ ४ ॥

रामपरै री ओर—
कईक[१२] जावै रासता ।
उजड़[१३] फिरण को कोड[१४]—
कियाँक[१५] पहुँचै 'कानियाँ' ॥ ५ ॥

लखणो[१६] हरि मुख इन्द—
सोजो[१७] सरजन[१८] (Surgeon) संत नैं
मोह मोतियोबिंद[१९]—
काढ्याँ[२०] सरसी 'कानियाँ' ॥ ६ ॥

छायो घणो[२१] अँधेर—
इण घरियै[२२] रै माँयनैं ।
मिटणैंमें नहिं देर
कर दीयो, लख 'कानियाँ' ॥ ७ ॥

मिलणै री मन धार-
तो मिलसी मारग घणाँ ।
आवै नहीं चलार[२३]—
आपे[२४] गैलो[२५] 'कानियाँ' ॥ ८ ॥

रहवै माया लार[२६]—
बुरको[२७] घाल्याँ कड़कसा[२८] ।
ऊंडी[२९] निजर निहार—
कनैं[३०] न फटकै[३१] 'कानियाँ' ॥ ९ ॥

---

* राजस्थानी भाषामें—

मतलबकी मनवार जगत जिमावै चूरमा । बिण मतलब मनवार राब न घालै 'राजिया' ॥

इस प्रकारके 'राजिया' आदिके सोरठे प्रसिद्ध हैं । इसी पद्धतिपर श्रीदूगड़जीने ये अत्यन्त बोधप्रद सोरठे राजस्थानीमें लिखे हैं । कठिन शब्दोंका अर्थ टिप्पणीमें दे दिया है । इससे पाठकोंको सुविधा होगी ।—सम्पादक

१. ग्रहणकर । २. नाम । ३. अनेक । ४. एक ही । ५. पसंद है । ६. किसीको कोई । ७. एक बार । ८. दीवाना । ९. चाहे जहाँ घूमो । १०. स्पर्श हुआ । ११. चाहे जहाँ । १२. कितने ही । १३. मार्गविहीन । १४. इच्छा । १५. कैसे । १६. देखना है । १७. खोज करो । १८. चीर-फाड़ करनेवाला चिकित्सक । १९. आँखका रोगविशेष जो बिना ऑपरेशन ठीक नहीं होता । इसमें दृश्य-पथमें आवरण आ जाता है । २०. आपरेशन करना होगा । २१. बहुत । २२. मन-मन्दिर । २३. चलकर । २४. अपने-आप । २५. मार्ग । २६. पीछे-पीछे । २७. मुसल्मान औरतोंके ओढ़नेका उपवस्त्र । २८. कुलटा । २९. गहरी । ३०. पास । ३१. आवे ।

माखण है पय माँय[१]—
पण मथियाँ ही निसरसी[२] ।
हरि हिवड़ै[३] रै माँय—
करलै हेरो[४] 'कानियाँ' ॥१०॥

लौंर[५] न छोडै पायँ[६]—
चिनोकँ[७] चिर्ळको[८] ऑगियो[९] ।
ऊग्यो सूरज आय—
तूँ क्यूँ काठो[१०] 'कानियाँ' ॥११॥

चुभी[११] मारतो जाय—
कदास[१२] मोती पायसी ।
धीरज मती गँवाय—
करताँ साधन 'कानियाँ' ॥१२॥

छपै कैमरै[१३] माँय—
फोटू लेताँ ज्यूँ रवै[१४] ।
अन्त समय रै माँय—
करसी परभव 'कानियाँ' ॥१३॥

चंचळ जळमें नाँय[१५]—
सूरत निरखी जा सकै ।
अथिर[१६] काळजै माँय—
किम हरि दरसण 'कानियाँ' ॥१४॥

चेलापण जिण[१७] खोट—
बण बैठ्यो गुरुदेव क्यूँ ।
छिपकर धूँवै[१८] ओट—
कबतक रहसी 'कानियाँ' ॥१५॥

ब्रह्म ज्ञान ही ज्ञान
और ज्ञान अज्ञान है ।
निजरी निज पहचान-
करलै क्यूँ[१९] नीं 'कानियाँ' ॥ १६ ॥

सूई माँहीं सूत-
पतलो कर पोईजसी[२०] ।
नमियाँ[२१] बणै सपूत-
कमलापति रो 'कानियाँ' ॥ १७ ॥

ऊँचो उठसी बीर-
नीचो नमणो जाणसी ।
कहलासी बो[२२] धीर-
कड़वी सहसी 'कानियाँ' ॥ १८ ॥

लोहचुगै[२३] ज्यूँ लार[२४]-
जिणरो जी[२५] जगदीशमें ।
जग जळनिधि री धार-
कदेन[२६] डूबै 'कानियाँ' ॥ १९ ॥

जळनिधि माँहीं झ्याज[२७]-
लाज रखै लाखाँ तणीं ।
भव निधि संत समाज-
काज सुधारै 'कानियाँ' ॥ २० ॥

जिण मन आस अपार-
बो पण भी देवै दगो ।
तिण[२८] स्यूँ एक विचार-
कियाँक[२९] निभसी 'कानियाँ' ॥ २१ ॥

जळ स्यूं भरियो माट[३०]-
जळरै मांहीं डूबसी ।
ज्यूं जळ हूसी[३१] घाट-
किरमे[३२] उठसी 'कानियाँ' ॥ २२ ॥

---

१. अंदर समाया हुआ । २. निकलेगा । ३. हृदय । ४. खोज । ५. पीछा । ६. प्रातःकर । ७. जरा-सा । ८. प्रकाश । ९. जुगनू । १०. सुस्त । ११. डुबकी लगाना । १२. कभी-न-कभी ।

१३. फोटो लेनेका यन्त्र । १४. रहता है । १५. नहीं । १६. अस्थिर अन्तःकरण । १७. जिसके । १८. धूवेंके आवरणमें ।

१९. क्यों नहीं । २०. पिरोया जायगा । २१. नम्रता-हीसे । २२. वह ।

२३. लोह चुम्बक । २४. अनुगामी । २५. मन । २६. कभी नहीं । २७. जहाज । २८. इस कारण । २९. किस प्रकार ।

३०. मटका । ३१. कम होता जायगा । ३२. क्रमशः ।

जग कालर[1] रो ताल-
नेड़ा[2] नेड़ा ना हुओ ।
पग फिसल्यां बेहाल-
कोजी[3] होसी 'कानियाँ' ॥ २३ ॥

पींजर जलम्यो शेर-
जाणै निजनैं गादड़ो[4] ।
दरपण देख्याँ फेरै[5]-
कड़क दहाड़ै 'कानियाँ' ॥ २४ ॥

सागर मिलणैं काज-
मारग बहती शंकरी[6] ।
जग उधार रो काज-
करती चालै 'कानियाँ' ॥ २५ ॥

सिद्धयाँ रो बाजार-
है भोळाँ[7] भरमावणी ।
ध्यानणियों[8] दिन च्यार-
करो[9] किनारो 'कानियाँ' ॥ २६ ॥

अथिर[10] नीर रै माँयँ-
मुख नहिं जोयो[11] जा सकै ।
तिम चित चंचल माँय-
ब्रह्म न सूझै[12] 'कानियाँ' ॥ २७ ॥

बरण[13] भले है ऊँच-
पण आचरण बुरा हुवै ।
प्रभु चरणाँ में पूँचै[14]-
कदेनै[15] होवै 'कानियाँ' ॥ २८ ॥

बाँध्यो[16] मन संसार-
बाँध्यो[17] मन ना जा सकै ।
बंध्याँ[18] जुड़ै संसार-
कटसी[19] बाँध्याँ 'कानियाँ' ॥ २९ ॥

हीरै स्यूँ ही एक-
हीरो काट्यो जा सकै ।
अन्तर् स्यूँ ही एक-
अन्तर् बश कर 'कानियाँ' ॥ ३० ॥

आँगणियैं[20] अवधेश-
उण दिन आया ओळखो[21] ।
सुख, दुख, हरख न क्लेश-
लेश[22] न उपजै 'कानियाँ' ॥ ३१ ॥

दयारूप दुख होय-
दुखहारी दुख में मिलै ।
विमल तपायां होय-
कंचन सो मन 'कानियाँ' ॥ ३२ ॥

खटमल भरियै खाट-
मीठी नींद न आ सकै ।
लगी विषय री चाट-
कठै[23] समाधि 'कानियाँ' ॥ ३३ ॥

पल्लो[24] पकड़ै पूत-
पग थामै[25] बापू तुरत ।
भगत भक्ति रै सूत
विभुनैं बाँधै 'कानियाँ' ॥ ३४ ॥

---

१. चिकनी मिट्टी । २. समीप । ३. बुरी । ४. गीदड़ । ५. देखनेके बाद ।

६. गंगा । ७. भोले व्यक्तिको भ्रमित करनेवाला । ८. प्रकाश । ९. दूर रहो । १०. चंचल । ११. देखा । १२. दिखलायी देता है ।

१३. कौम वा जाति । १४. पहुँच । १५. कदापि नहीं ।

१६. बन्धनमें डाल रक्खा है मनने संसारको । १७. किन्तु वह स्वयं बाँधा जाना मुश्किल है । १८. मनके बन्धनमें स्वयं व्यक्तिके आ जानेपर संसारकी प्राप्ति होती है । १९. और मनको बाँध लेनेपर मुक्ति हो जाती है । २०. आँगनमें अर्थात् मनमन्दिरमें । २१. पहचानो । २२. किञ्चिन्मात्र भी । २३. कहाँ । २४. अंचल । २५. पाँव ठहराना ।

हरि तूँ बाप कुलीन-
पण मैं पूत कमीन[1] हूँ।
हूँ रह्यो जे हीण[2]
किण[3] नैं हँससी 'कानियाँ' ॥ ३५ ॥

साँची एक पुकार-
परमेसर नैं खैंचले[4]
रोळा[5] करै लबाँर[6]-
कान न ढोरै[7] 'कानियाँ' ॥ ३६ ॥

हरिपद मस्तक टेक-
हरि नैं अरपण सब करै।
राख्याँ[8] सरसी[9] रेख-
शरणागतकी 'कानियाँ' ॥ ३७ ॥

हरि भगताँ रा बोल-
हिवड़ै माँहीं जतन स्यूँ।
जाणी रतन अमोल-
करलै भेळा[10] 'कानियाँ' ॥ ३८ ॥

एक जागती[11] जोत-
जिणरी जग करतूत[12] है।
उण भजियाँ सुख होत-
मोत[13] न फटकै 'कानियाँ' ॥ ३९ ॥

जिणरो कोई नाँय[14]-
उणरो श्रीजगदीश है।
तिणरै[15] पड़ियाँ पाँय-
के[16] परवा फिर 'कानियाँ' ॥ ४० ॥

माया काटण हेत-
हरि रो नाम करोत[17] है।
जो जन हरि जप लेत-
करै मौज फिर 'कानियाँ' ॥ ४१ ॥

जिणनैं जगरो सोच-
भगताँ नै किम भूलसी।
खाण पीण मन पोचै[18]-
करै बृथा जग 'कानियाँ' ॥ ४२ ॥

हरि रै खातर[19] प्राण-
देवण नैं तैयार जो।
हरि भी देतो त्राण-
कदे न बिसरै[20] 'कानियाँ' ॥ ४३ ॥

गूँगो गुड़ रो स्वाद-
चाखै पण नहिं कह सकै।
तिम हरि रस रो स्वाद-
कह्यो न जावै 'कानियाँ' ॥ ४४ ॥

मन नैं जीत्याँ जीत-
मन नैं हारयाँ मौत है।
इण मन री परतीत[21]-
भूल नै[22] करज्यो 'कानियाँ' ॥ ४५ ॥

फणी[23] हुवै मणिवान[24]-
धणी[25] हुवै पर[26] मौत हो।
दुर्जन हो विद्वान-
पास न फटको 'कानियाँ' ॥ ४६ ॥

तरु नहिं हो फलवान—
छाया सहजे[27] पावसी[28]।
संत न हो विद्वान-
संग कर्याँ सुख 'कानियाँ' ॥ ४७ ॥

---

१. नीच। २. अल्पज्ञ। ३. किसे। ४. आकृष्ट। ५. हल्ला। ६. वितण्डावादी, वाचाल। ७. सुनना। ८. रखनी होगी। ९. लज्जा। १०. इकट्ठा। ११. चिन्मय। १२. कर्म। १३. जन्म-मरण अर्थात् भव-बन्धन। १४. नहीं है। १५. उसके। १६. क्या चिन्ता। १७. आरा। १८. कच्चाई। १९. के लिये। २०. भूलता। २१. विश्वास। २२. भूलकर भी न करना। २३. सर्प। २४. मणिधर। २५. स्वामी। २६. पराई मृत्यु। २७. आसानीसे। २८. प्राप्त होगी।

मन तीरथ रै माँय-
ज्ञान रूप सरवर मधे ।
ध्यानरूप जल न्हाय—
निजं निर्मल कर 'कानियाँ' ॥ ४८ ॥

संताँरा बेंच धार-
संग्रह इणमें है किया ।
म्हारा तुच्छ बिचार-
किण लायक मैं 'कानियाँ' ॥ ४९ ॥

भूलाँ करी अनेक—
आछी संत प्रसाद सब ।
वाँचेंणियाँ ल्यो देख-
जाँचेंणिया बण 'कानियाँ' ॥ ५० ॥

भलो बुरो मैं एक-
चाकर गिरिधर चरण रो ।
रखँणी पड़सी टेक-
कह्यो साँभँळो 'कानियाँ' ॥ ५१ ॥

बावन पद री जेटँ-
हरि चरणन में भेट की ।
दुर्गुण म्हारा मेटँ-
कपटी मन रा 'कानियाँ' ॥ ५२ ॥

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या

(लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृतितीर्थ)

यह अद्वैतवादका सिद्धान्त है, ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है; क्योंकि इसका विनाश नहीं होता । संसार माया है, इसका अस्तित्व नहीं रहता । ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है और अज्ञान-स्वरूप माया है । मायामें आकर्षण है और ब्रह्ममें आकर्षण नहीं है । मायामें संयोग-वियोग दोनों हैं, परब्रह्मके साथ संयोग होनेपर कभी वियोग नहीं होता; क्योंकि श्रुति इस बातको प्रमाणित करती है कि 'न स पुनरावर्तते' इस ब्रह्मके साथ जिसका संयोग हो जाता है वह पुनः इस मायामय जगत्‌में नहीं आता ।

सत्य वस्तु और असत्य वस्तु—इन दोनों वस्तुओंमें क्या भेद है ? इस विषयमें गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(२ । १६)

असत् अर्थात् मायाका कभी अस्तित्व नहीं रहता और सत् (ब्रह्म) का कभी अभाव नहीं होता । इन वस्तुओंमें क्या अन्तर है ? इस बातको तत्त्वज्ञानियोंने समझा है । अर्थात् संसार माया है, इससे इसका अस्तित्व नहीं रहता; क्योंकि ज्ञान हो जानेपर संसार कपूरकी तरह उड़ जाता है । इसकी सत्ता नहीं रह जाती ।

माया असत् होनेपर भी जिसको अपने चंगुलमें फँसा लेती है, उसको छोड़ती नहीं; क्योंकि यह माया ब्रह्मकी है । ब्रह्मके आश्रित होनेसे यह नित्यकी तरह मालूम पड़ती है, दुःखमय होनेपर भी यह सुखमय भासित होती है । जब मनुष्य भगवान्‌के शरण हो जाता है, तब यह उसके पास नहीं जाती । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

(७ । १४)

यह माया दैवी है, अर्थात् दिव्य है—अलौकिक है । इससे इसका रूप पहचाना नहीं जा सकता । साथ ही यह गुणमयी है, त्रिगुणात्मिका है । सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—इन तीनों गुणोंसे युक्त है । अतः इसकी चमक-दमकमें सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी—तीनों गुणवाले मनुष्य चकाचौंध हो जाते हैं । किसीको इससे छुटकारा नहीं मिलता ।

१. अन्तःकरण । २. बोल । ३. किस योग्य । ४. पाठक ही देख लें । ५. परीक्षक बनकर । ६. रखनी होगी । ७. ध्यान दें । ८. संग्रह । ९. नष्ट करो ।

सत्त्वगुण सुख-भोगमें लगा देता है, जिससे देवगण स्वर्गके सुखको अच्छा समझकर उसीमें फँसे रहते हैं। रजोगुणप्रधान मनुष्य यज्ञादि कर्मको कर उसके फलमें आसक्ति होनेसे उसीमें लगा रहना चाहता है, उसीको अच्छा समझता है और उसीमें लगा रहता है। तमोगुण मनुष्यकी अच्छे-बुरेकी विवेक-शक्तिको आच्छादित करके प्रमाद अर्थात् भूलसे बुरे कर्ममें प्रवृत्त कराकर दुःखमें फँसा देता है। गीतामें भगवान्‌ने इसी बातको कहा है—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥
(१४ । ९)

इसी बातको स्वयं करनेके एवं समझानेके लिये तीन श्लोकोंसे भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको समझाया है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥
(१४ । ६)

सत्त्वगुणका स्वरूप और बन्धन करनेकी विधि दोनों ही इस श्लोकमें बतायी गयी हैं। सत्त्वगुण प्रकाशक है, निर्मल है और आधि-व्याधिसे रहित है; इसलिये सुख-भोगमें आसक्ति उत्पन्न करके बन्धनमें रखनेकी चेष्टा करता है।

दूसरा है रजोगुण, इसके स्वरूप और कामका वर्णन करते हुए कहा है—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥
(१४ । ७)

यह संसारकी वस्तुओंमें आसक्ति उत्पन्न करके लोभके द्वारा मनुष्यको संसारमें फँसाये रहता है। एक कार्यको जब-तक समाप्त नहीं करता, तभी दूसरा कार्य सामने उपस्थित हो जाता है। इस तरह उसका काम पूरा होता ही नहीं।

तमोगुणका काम है मनुष्यकी बुद्धिको अज्ञानमें रखना। इसके प्रभावसे मनुष्य निद्रा, प्रमाद और आलस्यमें पड़ा रहता है। वास्तविकताका ज्ञान उसे कभी होता ही नहीं। गीतामें तमोगुणके स्वरूपका वर्णन भगवान्‌ने किया है—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥
(१४ । ८)

तमोगुण स्वयं अन्धकारस्वरूप है। अन्धकारमें किसी वस्तुका वास्तविक ज्ञान किसीको नहीं होता।

श्रीमद्भागवतके बारहवें स्कन्धमें ऐसी कथा है कि परब्रह्म, सच्चिदानन्द नर-नारायणके रूपमें महर्षि मार्कण्डेयके आश्रममें गये। महर्षिकी उग्र तपस्या और निष्कामतासे प्रसन्न होकर नर-नारायणने वर माँगनेको कहा। मार्कण्डेयजीने भगवान्‌की मायाके प्रत्यक्ष स्वरूपको देखनेकी इच्छा प्रकट की। भगवान्‌ने अपनी मायासे प्रलयका दृश्य उपस्थित किया। मार्कण्डेयजी प्रलयपयोधिमें गोते लगाने लगे। बड़े-बड़े जल-जन्तु मुँह फैलाकर उनको खानेके लिये दौड़ने लगे। सर्वत्र जल-ही-जल दीख पड़ता था। जलकी उत्ताल तरङ्गोंसे वे लुढ़कने लगे। अङ्ग सब शिथिल हो गये। इस तरह गोता लगाते महर्षिको हजारों वर्ष मानो बीत गये। तब उन्होंने वटवृक्षके पत्तेपर सोये हुए एक बालकको अपने दाहिने पैरके अँगूठेको मुखमें डालकर चूसते हुए देखा। उसके तेजसे आकृष्ट होकर उसके पास तैरते हुए पहुँचे कि बालकने मुँह फैलाया और उसकी साँसकी हवासे वे उसके उदरमें चले गये। वहाँ उन्होंने तीनों लोकोंका अवलोकन किया। हजारों वर्षोंतक भ्रमण करते रहे। उसमें देवलोक, मनुष्यलोक तथा पाताललोकमें रहनेवाले दैव, मनुष्य एवं दैत्योंको देखा। अपने आश्रमको भी उन्होंने देखा। आकाश, पाताल, नक्षत्रादिको भी देखा। यथा—

खं रोदसी भगणानद्रिसागरान्
द्वीपान् सवर्षान् ककुभः सुरासुरान्।
वनानि देशान् सरितः पुराकरान्
खेटान् व्रजानाश्रमवर्णवृत्तयः ॥
(श्रीमद्भागवत १२ । ९ । २८)

इसके पश्चात् उस बालकके श्वासवायुसे पुनः उसी प्रलयाब्धिमें निकल पड़े। उस बालकको देखकर ऋषिने उस बालकके स्वरूपको अपने हृदयमें स्थापित किया और जब उस बालकको गोदमें लेकर हृदयमें लगानेका विचार किया तो वह बालक अन्तर्हित हो गया। दूसरे क्षण महर्षिने देखा कि वे पूर्ववत् पुष्पभद्रा नदीके तटपर संध्या करनेको बैठे हैं। न प्रलयका जल-प्लावन है, न मेघोंका गर्जन है। अपनी लंगोटीको सूखनेके लिये जो फैलाया था, सो अभी गीली ही थी। सूर्य भी अभी अस्त नहीं हुए थे।

मायाके इस कार्यको देखकर ऋषिने समझ लिया कि भगवान्‌की माया सचमुच दुरतिक्रमणीय है ।

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें सौभाग्यवती देवी देवकीके गर्भमें भगवान्‌के आ जानेपर ब्रह्मा और शिवने सब देवताओंके साथ गर्भगत भगवान्‌की स्तुति की । वेदव्यासजी-ने उनकी स्तुतिमें लिखा है—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भागवत १० । २ । २६)

कहनेका तात्पर्य यह है कि सत्यसंकल्प, सत्यस्वरूप, त्रिकाल सत्य, सत्याधिष्ठान, सत्याधिष्ठित, सत्यके भी सत्य और सत्यके स्वरूप परब्रह्मकी शरण हम ग्रहण करें । उसी सत्यस्वरूप ब्रह्मसे अधिष्ठित होनेपर मिथ्या जगत् भी सत्यवत् प्रतिभासित होता है । इसीलिये संसारका नाम विवर्त्त है । अर्थात् **'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः'** जो वस्तु न होकर भी दीख पड़े, वह विवर्त्त कहा जाता है ।

अतः असद्वस्तुमें आसक्ति होनेसे मनुष्यकी तृष्णा कभी मिटती नहीं है । यह माया त्रिगुणात्मिका होनेसे सुख-दुःख-मोहात्मक देख पड़ती है । वस्तुतः इसमें सत्यका लेश भी नहीं है । सत्य तो ब्रह्म है । असत्य वस्तु जब समझमें आ जाती है, तभी मनुष्य सत्यकी खोजमें लगता है । सत्यकी खोज करनेवाला असत्यका परित्याग करता है । इसलिये इस असत्य संसारकी वस्तुओंसे जबतक वैराग्य नहीं होता, तबतक सत्यकी प्राप्ति नहीं होती ।

इसलिये ब्रह्मके स्वरूपको शास्त्रकारोंने बतलाया है—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है । अतः मनुष्य-जीवनकी सफलता सत्यकी प्राप्तिमें है । अज्ञानमें पड़ा रहना मनुष्य-जीवनको व्यर्थ खो देना है । इसलिये जो मनुष्य स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति करना चाहते हैं, वे बुद्धिहीन हैं । अतएव निम्नलिखित श्लोकके अनुसार भगवान्‌के चरणारविन्दकी धूलिको प्राप्तकर मनुष्य-जन्मको सार्थक बनाना चाहिये ।

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । १६ । ३७)

जो भगवान्‌के चरणारविन्दकी धूलिको प्राप्त कर लेते हैं, वे न तो स्वर्गका राज्य चाहते हैं, न सार्वभौम-साम्राज्य, न ब्रह्माका पद, न पातालका राज्य, न योगकी सिद्धियाँ और न अपुनर्भव मोक्ष ही ।

मेरी चाह

प्रियतम ! तुमने सहज सभी सुविधा दी मुझको, कर अति प्यार ।
इन्द्रिय, इन्द्रिय-विषय सभी कुछ दिये, सहज ही विविध प्रकार ॥
आगे-से-आगे तुम देते रहते, सच्चा देख अभाव—
माँगे-बिन माँगे, तुम कुछ भी नहीं देखते मेरा भाव ॥
अस्वीकार करूँ मैं तुमको, चाहे करूँ नित्य अपमान ।
देख-रेख करते कुपूतकी स्नेहमयी माँ-सदृश अमान ॥
नहीं चाहता अतः जगत्‌की वस्तु-परिस्थिति क्षुद्र महान् ।
बढ़ते रहें परम श्रद्धा-विश्वास अटल तुममें भगवान् ॥
रहे न मनमें स्व-सुख-वासनाका प्रभु ! कहीं जरा भी लेश ।
बढ़ती रहे चरण-रति निर्मल 'प्रति-पल-वर्धमान' सविशेष ॥
सर्व समर्पण पूर्ण सहज हो, रहे नहीं ममता-अभिमान ।
बना रहूँ लीलोपकरण मैं अविरत लीलामय भगवान् ॥

भारतीय ज्यौतिषशास्त्र और भगवान्

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

'वेदान्तदर्शन'के 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्रमें शास्त्रोंको भगवान्की योनि—ज्ञापक माना है[1]। स्कन्दपुराणके वैशाख-माहात्म्यमें भी यही बात कही गयी है—

तदेतच्छास्त्रगम्यं हि जन्माद्यस्य महाविभोः।
नावेदविदमुं विष्णुं मनुते च नरः क्वचित्॥
नेन्द्रियैर्नानुमानैश्च न तर्कैः शक्यते विभुम्।
ज्ञातुं नारायणं देवं वेदवेद्यं सनातनम्॥

(स्कं० वैष्णव० वैशाख० १९। ११; १३-१४)

इन श्लोकोंमें 'शास्त्रयोनित्वात्' 'जन्माद्यस्य यतः' आदि ब्रह्मसूत्रों तथा **'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'** (तैत्तिरी० ब्राह्म० ३। १२। ९-७, शाट्यायनी० उपनि० १। ४) आदि श्रुतियोंका भाव व्यक्त किया गया है। अतः वेद-वेदान्त, पुराणादिका इसपर सर्वथा ऐकमत्य है कि भगवान् शास्त्रगम्य ही हैं। तै० ब्रा० ३। १२। ९-७ के वचनमें अवेदविद्को ब्रह्मस्वरूप परिज्ञात न होनेकी बात भी कही गयी है।

'शास्त्र'की परिभाषा

शासनार्थक—'शास्' धातुसे **'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्'** इस उणादि सूत्रद्वारा 'शास्त्र' शब्द बनता है। रत्नप्रभा १। १। ३ आदिमें **'हितशास्त्रत्वात् शास्त्रम्।'** लिखकर अत्यन्त हितकर उपदेश निर्देश देनेके कारण वेदादि समस्त विद्या-स्थानोंको शास्त्र कहा गया है। **'शास्त्र-शब्दः शब्दमात्रोपलक्षणार्थः'** (द० प्र०) **'ऋग्वेदादिशास्त्र-स्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य'** (शां० भाष्य) **'पुराणन्याय-मीमांसाधर्मशास्त्राणि, शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तछन्दोज्योतिषाणीति दशविद्यास्थानानि (रत्नप्र० भामती)।** भामतीकार चारों वर्ण, चारों आश्रमोंको नित्य, नैमित्तिक, काम्य-कर्मोंमें शिष्योंके शासन करनेके कारण वेदादिको शास्त्र कहते हैं। तन्त्रवार्तिक ३। १। १३-१५ में भी **'शब्दब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते।'** इत्यादिसे वेदको ही मुख्य शास्त्र माना है। योगवासिष्ठ ३। ९५। १५ में 'शास्त्र'की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

अविसंवादिनार्थे यद्यत्प्रामाणिकदृष्टिभिः।
वीतरागैर्विनिर्णीतं तच्छास्त्रमिति कथ्यते।'

—इसकी 'प्रकाश' टीकामें वेद, स्मृति, दर्शनोंको शास्त्र मान लिया गया है।[2] इस सम्बन्धमें स्कन्दपुराणका मत बड़ा स्पष्ट है—

शास्त्रं च वेदाः स्मृतयः पुराणं वै तदात्मकम्।
इतिहासः पञ्चरात्रं भारतं च महामते॥
एतैरेव महाविष्णुर्ज्ञेयो नान्यैः कथंचन।

(१९। १२-१३)

शब्दकल्पद्रुमादि कोशोंमें १८ विद्याओंको ही शास्त्र माना है। महाभारत, शान्तिपर्व २। ७। २ में आये हुए **'श्रवणं चैव शास्त्राणाम्'** में शास्त्र पदकी व्याख्या करते हुए पं० नीलकण्ठ लिखते हैं—

शास्त्रम्—तार्किकपाशुपतपाञ्चरात्रसांख्यपातञ्जलपूर्वोत्तर-मीमांसे उपदेशोपपत्तिप्रधानानि च।' यहाँ आगे चलकर उनकी संख्या बड़ी लंबी है और वे नास्तिक दर्शनोंको भी गिन गये हैं। पर वेद, वेदाङ्ग, स्मृति, इतिहास, पुराण, आगमोंकी ही निर्विवाद शास्त्रता सर्वमान्य है। अतः प्रसिद्ध है कि—

शास्ति यत्साधनोपायं चतुर्वर्गस्य निष्कलम्।
तथा तद्बाधनापायमेषा शास्त्रस्य शास्त्रता॥

१—(क) शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यते।

(ब्रह्मसूत्र १—१—३ का शाङ्करभाष्य)

(ख) ब्रह्मज्ञानकारणत्वात् शास्त्रस्य तद्योनित्वं ब्रह्मणः।

(ब्रह्मसूत्र १—१—३ का श्रीभाष्य)

२—अलौकिके धर्मे ब्रह्मणि च प्रमाणं श्रुतिः तत्प्रभवा दृष्टिर्येषां तैः प्रामाणिकदृष्टिभिः। वीतरागैः—मन्वादिभिर्धर्माधर्मरूपे ··· जैमिनीयादितन्त्रसिद्धन्यायकलापेन यद् यद् विनिर्णीतं निर्णीय निबद्धं स्मृति-पुराणकल्पसूत्रेतिहासादि तच्छास्त्रमिति कथ्यते।

अर्थात् अलौकिक धर्म ब्रह्मादि विषयोंमें श्रुति ही प्रमाण है। जिनकी दृष्टि वेदानुसारिणी है, वे प्रामाणिक दृष्टिवाले महापुरुष हैं। ऐसे वीतराग—पक्षपातरहित, प्रामाणिक दृष्टिवाले मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, पराशरादिद्वारा निर्धारित स्मृतियाँ तथा जैमिनिप्रोक्त मीमांसादि दर्शनोंद्वारा निर्णीत एवं निबद्ध धर्मशास्त्र, पुराण, कल्पसूत्र, इतिहासादि ग्रन्थ शास्त्र कहे जाते हैं।

शास्त्र और भगवान्

शास्त्रोंके गौण तात्पर्य धर्मादि पुरुषार्थचतुष्टयरूप अभ्युदय-निःश्रेयस् किंतु यथार्थतः परम तथा चरम तात्पर्य एकमात्र सर्वेश्वर भगवान् हैं। यह—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

(लिङ्गपुराण उत्तरार्द्ध १-३)

इत्यादि वचनों तथा—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ०) **'नारायणपरा वेदाः'**

(श्रीमद्भागवत २। ५। १५)

नारायणपरं सांख्यं योगो नारायणात्मकः'

(महा० शान्ति० ३४७। ८०)

एवं

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥

एव

वेदे रामायणे पुण्ये पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥

—आदि वचनोंसे सुस्पष्ट है। वेदान्तादि शास्त्र तो भगवान्‌से व्यतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं स्वीकार करते।

'ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्' 'वासुदेवः सर्वमिति', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

—आदिसे वे सभी प्राणी, पदार्थ, क्रिया एवं भावोंमें भगवान्‌को ही देखते हैं। 'खट्वाङ्ग' आदिने इसी दृष्टिके सहारे स्वल्पकालमें मोक्ष प्राप्त किया था। योगादि साधनशास्त्रोंमें इसी दृष्टिको समाधि कहा है।

इसमें स्व-पर सब लुप्त होकर केवल भगवान् ही बच जाते हैं—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

(ललितोपाख्यान ४३। ५०, सरस्वतीरहस्योप० २। ३१, पैङ्गलोपनिषद् ४। २१)

अब देखना है कि इस दृष्टिसे ज्यौतिष शास्त्र कितना सहायक होता है; क्योंकि ऐसा न होनेपर किसी भी शास्त्र अथवा पदार्थकी उपयोगिता नहीं रहती। यथा—

जरै सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ।
सन्मुख होत जो रामपद करै न सहस सहाइ॥
सो सुख कर्म धर्म जरि जाऊ। जहँ न रामपद-पंकज भाऊ॥

इत्यादि।

ज्यौतिष और भगवान्

कहा जाता है कि ज्यौतिष तथा योगादि शास्त्रोंद्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान आदि तथा अतीन्द्रिय, व्यवहित (गुप्त) एवं विप्रकृष्ट (सूक्ष्मातिसूक्ष्म) वस्तुओंका भी सम्यक् ज्ञान हो जाता है—

अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम्।
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः॥

(श्रीमद्भागवत १०। ६१। २१)

वास्तवमें बात है भी ऐसी ही। ज्यौतिषशास्त्र यद्यपि वेदाङ्गमें ही परिगणित है और वेदका नेत्र माना जाता है, तथापि लौकिक दृष्टिसे भी इसकी विशेष मान्यता है। गणित इसका मूल है। अरबीमें गणित-विद्या अङ्कशास्त्रको 'हिन्दसा' इसलिये कहते हैं कि इसका ज्ञान उन्हें हिंदुस्थान अथवा भारतसे हुआ—

जिस अङ्कविद्याके विषयमें वादका मुँह वन्द है,
वह भी यहाँके ज्ञानरविकी रश्मि एक अमन्द है।
डर कर कठोर कलंकसे या सत्यके आतंकसे,
कहते अरबवाले अभीतक 'हिन्दसा' ही अंकसे॥

इत्यादि।

ग्रह उनके आधारपर बने। वार आदिको अंग्रेजीमें भी रवि (Sun) रविवार (Sunday), सोम (Moon) सोमवार (Monday) से लेकर शनि (Satur) और शनिवार (Saturday) तक कहते हैं। उनके यहाँ भी उतने ही दिन, ३० दिनका ही मास और १२ मासोंका ही वर्ष आदि होते हैं। अतः सिद्ध है कि भारतीय ज्योतिर्गणित ही विश्वमें मान्य है। १० के बाद ११, ९ तक ही अङ्क ग्रह आदिका प्रचार सर्वत्र एक समान है। पर गणितका फल फलित तथा फलितके फल भी भगवान् हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि विशुद्ध भारतीय ज्यौतिषद्वारा निर्दिष्ट सभी फल सर्वथा सत्य आते हैं। परिव्रज्या आदि योग द्वि-त्रि-चतुर्ग्रहोंके संयोग आदिके कुण्डलीप्रोक्त फल, सभीके मिलते देखते हैं। देवकीनन्दनसिंहने 'ज्योतिषरत्नाकर'में

ऐसे सैकड़ों वर्तमान तथा विगत लोगोंके उदाहरण लिखे थे। पर इन सभीका भी तात्पर्य इसीमें है कि प्राणी शास्त्रोंपर विश्वास करना सीखकर भगवत्प्राप्तिकी ओर प्रवृत्त हो। स्वप्न-विषयका ज्यौतिष तथा योग दोनोंसे ही सम्बन्ध माना गया है। प्रायः बुरे स्वप्नोंके भयानक फल भी प्रत्यक्ष होते दीखते हैं। 'गजेन्द्रमोक्षादि' द्वारा उनकी शान्ति भी होती है। इससे स्पष्ट है कि भगवद्भजन आदि श्रेष्ठ कर्मोंसे क्लेश दूर होकर सुख होता है तथा पुण्य-पापोंके फल ही ग्रह तथा स्वप्नादिद्वारा अभिव्यक्त होते हैं। योगिजन उन्हें सामान्य विचारद्वारा ही जान लेते हैं। विशेष भजन आदिद्वारा ही योगसाधना सम्पन्न होती है। सामान्यजन उन्हें नहीं जानते। चोर, डाकू आदि पापियों तथा नास्तिकोंके ज्ञानविचार सर्वथा प्रतिकूल तथा गलत भी होते हैं। वे स्वप्नमें भी प्रायः पुलिस आदिद्वारा पकड़े जाने तथा जनता आदिद्वारा मारे जानेका ही देखते हैं। उन्हें शान्ति भी सम्भव नहीं। अतः कल्याणकामी पुरुषको सर्वथा पाप आदिसे बचकर श्रेयस्कर कार्योंमें ही प्रवृत्त होना चाहिये। श्रेयस्करोंमें भी भगवत्स्मृति तथा सर्वत्र भगवद्भावना सर्वाधिक श्रेयस्कर हैं। अतः सदा इधर ही प्रवृत्त होनेका प्रयत्न होना चाहिये। जिसकी बुद्धि जितनी शुद्ध होती है, उसका विज्ञान उतना ही अधिक होता है, तथा उसे क्लेश भी कम होता है। यही उत्थान-मार्ग है। इसमें विशेष तथा अतिविशेष उठ जाना ही भगवदैक्य—सायुज्य-मुक्ति आदिकी प्राप्ति कही जाती है। यही स्थिति वाञ्छनीय है।

नित्य आदर्श युगपुरुष राम

(लेखक—श्रीपरमेश्वरीशरणजी वर्मा)

समयके साथ प्रत्येक देशमें भाषा-भूषा और भावनामें परिवर्तन होता रहता है। समयके अनुसार ही साहित्यमें परिवर्तन होते हैं; पर कुछ सत्य ऐसे हैं जो प्रत्येक काल-में सुप्रतिष्ठित रहते हैं। उन सत्योंका अवलम्बन करके जो पुरुष अपने पगचिह्न छोड़ जाते हैं, वे सदैव-सदैव हम सबको प्रेरणा देते हुए उन्नतिकी ओर अग्रसर करते रहते हैं। ऐसे पुरुष युगपुरुष कहलाते हैं और वे अन्धकारमें प्रकाश-पुञ्जकी भाँति हमें सन्मार्ग दिखाते रहते हैं।

फिर भी कालान्तरमें जो पुरुष जैसा होता है, वैसा ही सदैव नहीं दिखता है। जनसाधारणकी भावना-कुभावना उसको अपने रंगोंसे रँगती रहती है। वह पुरुष युगान्तरमें कैसा होगा, यह इस बातपर निर्भर करता है कि उसने जन-मानसपर अपने कैसे चिह्न छोड़े हैं। यदि जनजीवन-ने उसको पुरुषोत्तम माना है तो उसके जीवनके वे भाग जो जनसाधारणको अच्छे नहीं लगे, भुला दिये जाते हैं और यदि जगत्ने उसे असाधारण परदुःखदायी माना तो उसके गुण भुला दिये जाते हैं। नीर-क्षीर-विवेक करने-वालोंकी बात छोड़िये—वे तो किसी भी कालमें किसीके भी गुण-दोषोंका ठीक-ठीक विवेचन कर ही देंगे; पर जन-साधारण तो रामको देव और रावणको दानव ही मानेगा, भले ही ज्ञानी दोनोंमें गुण तथा दोष निकाल लें।

रामका चरित्र जैसा हमारे सामने आज है—सदैवसे वैसा ही कवियोंने ही दर्शाया है। प्रत्येकने उन मर्यादा-पुरुषोत्तमका चित्र अपनी तूलिकासे खींचा है और अपनी-अपनी रुचिके अनुसार ही उसमें रंग दिये हैं।

तुलसीके शब्दोंमें—

जिन्हकें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

इस विज्ञान-प्रधान युगमें शंका होने लगी कि राम क्या ईश्वरके अवतार थे या साधारण पुरुष? तो श्रीमैथिली-शरण गुप्तने यही प्रश्न स्वयं रामसे कर दिया—

राम! क्या तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्वमें सभी जगह रमे हुए नहीं हो क्या?
तो मैं अनीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे॥

इस समय प्रचुर संख्या उन लोगोंकी मिल जायगी जो रामको ईश्वर नहीं मानते। यद्यपि करोड़ों धर्मप्राण हिंदुओंके लिये राम एवं ईश्वर पर्यायवाची हैं; पर ऐसा तो कोई भी नहीं मिलेगा जो उन्हें भुला दे। जो जीवनके आदर्श उन्होंने हमारे सामने रक्खे हैं, वे दिन-प्रतिदिन बल्कि क्षण-प्रतिक्षण हमें उनकी याद दिलाते रहते हैं और जीवनकी कटुताको कम करते हैं। सुखमें राम, दुःखमें

राम, राम-राममें राम—और 'राम नाम सत्य है' में राम। ऐसे रामकी याद किसी भी कविके दृष्टिकोणसे करें—पुण्यका काम है।

वाल्मीकिको पता नहीं था कि राम-जैसा पुरुष जन-साधारणकी ही भाँति इस पृथ्वीपर ही विचरण कर रहा है। इसलिये उन्होंने नारदसे प्रश्न किया कि इस समय इस संसारमें गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी, दृढ़व्रत, अनेक प्रकारके लीला-चरित्र करनेवाले, प्राणिमात्रके हितैषी, विद्वान्, समर्थ, अति दर्शनीय, धैर्यवान्, क्रोधको जीतनेवाले, तेजस्वी, ईर्ष्याशून्य और युद्धमें क्रुद्ध होनेपर देवताओंको भी भयभीत करनेवाले पुरुष कौन हैं? तो नारदने उनको इन गुणोंसे विभूषित रामका इन शब्दोंमें वर्णन किया—

बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥
समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः॥
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः॥
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः॥

इन शब्दोंको सुनकर वाल्मीकि ऋषिके मनमें उन श्रीरामको जाननेकी तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। अतएव उन्होंने योगबलसे उन सब चरित्रोंको देखा जो भगवान् रामने इस पृथ्वीपर किये थे। उन्होंने उन सब चरित्रोंके वर्णन यथावत् अपनी रामायणमें किये। रामने जो अलौकिक कार्य किये, जो अपूर्व चरित्र जनसाधारणके सामने रक्खा, वह अनुकरणीय तो है ही साथ ही वह हमारी समझके और पहुँचके अंदर है। वे हमारे-आपके सामने उतने कठिन व्रतधारीके रूपमें नहीं प्रकट होते हैं, जैसे तुलसीके राम हैं। तुलसीके राम कमलपत्रपर जलके समान हैं। कमलपर हैं, पर उनका कमलसे कोई सम्बन्ध नहीं था। वे संसारमें हैं और उसके सुख-दुःखोंको भोगते हैं, पर उनसे निर्लेप हैं। उनकी स्तुति करते हुए तुलसीने लिखा—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥

वाल्मीकिके राम भी ऐसे ही हैं—

न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः॥
(अयोध्या० १९।३२)

अर्थात्—राज्याभिषेक न होनेसे श्रीरामचन्द्रकी मुख-द्युतिमें तिलभर भी अन्तर न पड़ा। वह जैसे पूर्व थे, वैसे ही कान्तिमान् बने रहे; क्योंकि उनमें स्वाभाविक कान्ति थी। जैसे कृष्णपक्षके चन्द्रमाकी कान्ति नित्य क्षीण होनेपर भी नहीं हटती।

फिर भी, वे लीलानागर हमारे-आपकी तरह ही सुख-दुःख अनुभव करते हैं और क्रोधका नाट्य भी करते हैं। जहाँ उन्होंने माता कैकेयी और भरत भाईके प्रति इन शब्दोंमें अपना प्रेम प्रकट किया—

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः॥
(अयोध्या० १९।७)

महाराजकी बात रहने दें, मैं तो तेरे ही कहनेसे प्रसन्नतापूर्वक भाई भरतको अकेला राज्य ही नहीं, बल्कि सीता, अपने प्राण, इष्ट, धन सब कुछ दे सकता हूँ।

वहीं उन्होंने मानसिक उत्तेजनामें कैकेयी और भरत-पर अपना अविश्वास भी प्रकट किया है—

कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि कथं स्यान्मम वेदने।
यदि तस्या न भावोऽयं कृतान्तविहितो भवेत्॥
(अयोध्या० २२।१६)

हे लक्ष्मण! यदि दैव मेरे विपरीत न होता तो मुझे पीड़ा देनेके लिये कैकेयीकी बुद्धि कभी ऐसी न होती अर्थात् वह वन भेजनेका दुराग्रह न करती।

माता कौसल्यासे वे बोले—

ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्।
तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्याग्रतो मम ॥
(अयोध्या० २६ । २५)

अहं ते नानुवक्तव्यो विशेषेण कदाचन।
अनुकूलतया शक्यं समीपे तस्य वर्तितुम् ॥
(अयोध्या० २६ । २६)

समृद्धिमान् पुरुषोंको दूसरोंकी प्रशंसा सह्य नहीं होती। अतः तू भरतके सामने मेरी बड़ाई मत करना; नहीं तो भरत तेरा भरण-पोषण न करेंगे। यदि भरतजीकी इच्छाके अनुकूल चली, तो ही तेरा यहाँ निर्वाह हो सकेगा।

लक्ष्मणसे भी उन्होंने कहा कि तुम घर रुक जाओ; क्योंकि—

सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता।
दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम् ॥
(अयोध्या० ३१ । १३)

अश्वपतिकी बेटी कैकेयी जब राजमाता होगी, तब वह अपनी दुःखिनी सौतोंके प्रति अच्छा बर्ताव न करेगी।

वनके रास्तेमें जब पहला पड़ाव डाला, तब भी रामको यह चिन्ता सताती रही—

सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात्।
अपि न च्यावयेत् प्राणान् दृष्ट्वा भरतमागतम् ॥
(अयोध्या० ५३ । ७)

अर्थात् कहीं ऐसा न हो कि कैकेयी भरतके आनेपर राज्यके लोभसे महाराज दशरथको मार डाले।

देखिये, क्या यह तुलसीके रामकी वाणी हो सकती है—

को ह्यविद्वानपि पुमान् प्रमदायाः कृते त्यजेत्।
छन्दानुवर्तिनं पुत्रं ततो मामिव लक्ष्मण ॥
(अयोध्या० ५३ । १०)

अर्थात् हे लक्ष्मण ! कोई मूर्ख भी ऐसा न करेगा कि स्त्रीके कहनेसे मुझ-जैसे आज्ञाकारी अपने पुत्रको त्याग दे।

जब विराधने सीताको पकड़ा तो राम साधारण पुरुषोंकी ही भाँति रोते हुए बोले—

कैकेय्यास्तु सुसंवृत्तं क्षिप्रमद्यैव लक्ष्मण।
या न तुष्यति राज्येन पुत्रार्थे दीर्घदर्शिनी ॥
(अरण्य० २ । १९)

हे लक्ष्मण ! कैकेयी बड़ी दूरदर्शिनी है जो अपने पुत्रको राज्य दिलवाकर भी संतुष्ट न हुई और हमें इस अभिप्रायसे वन भेजा कि वनमें जब सीताको राक्षस हर लेंगे (और राम उस दुःखसे मर जायँगे तब मेरे बेटेका राज्य निष्कण्टक हो जायगा) इतनी जल्दी उसी कैकेयीकी मनोभिलाषा आज पूरी हुई।

फिर बोले—

ययाहं सर्वभूतानां प्रियः प्रस्थापितो वनम्।
अद्येदानीं सकामा सा या माता मध्यमा मम ॥
(अरण्य० २ । २०)

जिस कैकेयीने मुझ-जैसे सब प्राणियोंके हितैषीको वनमें निकलवा दिया, उस मेरी मँझली माताका इस घड़ी मनोरथ पूरा हुआ।

रावणके द्वारा सीताहरण होनेपर वे भावावेशमें फिर ऐसी ही वाणी बोले—

हा सकामाद्य कैकेयी देवि मेऽद्य भविष्यति।
सीतया सह निर्यातो विना सीतामुपागतः ॥
(अरण्य० ६२ । १०)

हे देवि ! मेरे कारण कैकेयी सफलमनोरथ होगी; क्योंकि वह देखे भी कि सीतासहित मैं घरसे निकला था और जाऊँगा सीतारहित।

रामकी यह झाँकी रामचरितमानसमें नहीं मिलती। उनको मानसमें क्रोध केवल तब आता है, जब वे राक्षसोंका वध करना चाहते हैं। उनको माता कैकेयीपर कभी अविश्वास नहीं होता। वे स्वप्नमें भी नहीं सोच सकते हैं कि भरत उनका या किसीका भी अपकार कर सकते हैं। तब भी अविश्वास नहीं होता, जब लक्ष्मणको चित्रकूटमें इस बातपर क्रोध आता है कि भरत वनमें सेना लेकर आये। लक्ष्मण कहते हैं कि भरतने रामको निस्सहाय समझा है, मैं भरतको युद्धकी सेजपर सुला दूँगा। लक्ष्मणको राम शान्त करते हैं और कहते हैं—

भरतहि होइ न राजमद बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ ॥

उनका कथन है—

भयउ न भुवन भरत सम भाई।

रामने बहुत दुःख झेले। पत्नीवियोग और भाईके प्राण सङ्कटमें होनेपर भी कभी उनके मुखसे नहीं निकला कि इन सबका कारण उनकी माता कैकेयी हो सकती हैं। लक्ष्मणके शक्ति लगनेपर विलाप करते हुए उन्होंने केवल यह कहा—

जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥

बस ! कष्टके चरम बिन्दुपर केवल इतना ही। फिर भी माँ कैकेयीसे या भाई भरतसे कोई उलाहना नहीं।

जब वनसे लौटकर आये, तब भी मनमें कोई रंज नहीं, वरं कैकेयीके संकोचका हृदयमें आभास था। अतएव—

प्रभु जानी कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गए भवानी॥

तुलसीके राम आदर्श पुरुष हैं। उनमें सांसारिक विकार नहीं है। उनके हृदयमें प्राणिमात्रके लिये केवल प्रेम एवं दया ही है।

तुलसीके राम जब गुप्तजीके अन्तरमें आये तो और भी निखर उठे। 'संकोची राम' गुप्तजीके मानसमें मुखर हो उठे। वे उर्मिलाके त्यागके प्रति उदासीन नहीं हैं। वे केवल चुप रहकर ही कैकेयीको संतोष नहीं देना चाहते हैं। वे तो चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।
जिस जननीने है जना भरत-सा भाई॥

और भरतके मुखपर ही कहीं उनकी यह वाणी मन पुलकित कर देती है—

उसके आसय की थाह मिलेगी किसको।
जन कर जननी ही जान न पाई जिसको॥

न मनमें संशय है, न संकोच। उनके मनमें है केवल प्रेम–सबके लिये। जब सीताहरण हुआ, जब लक्ष्मण-के शक्ति लगी, तब उनके मुखसे एक भी शब्द भूलसे भी ऐसा नहीं निकला कि जिससे यह ध्वनि आती हो कि उन्हें अपना वनवास बुरा लगा हो। माण्डवीसे गुप्तजीने कहलवाया है—

भूरि भाग्य ने एक भूल की सबने उसे सम्हाला है।
हमे जलाती पर प्रकास भी फैलाती यह ज्वाला है॥

गुप्तजीके रामका कहना है कि हम प्रतिदिन जीवनमें कितनी ही भूलें करते हैं, जिनसे हमको लाभ होता प्रतीत होता है; पर दूसरोंको कष्ट अकारण ही मिलता है। ऐसे-में जिसके प्रति अपराध किया गया है, वह यदि अपराध-का प्रतिशोध न ले बल्कि उसको क्षमा कर दे तो जीवनकी कटुता ही न कम होगी, वरं सुख और यश मिलेगा। कैकेयीको घृणा करना कितना आसान था, पर क्षमा करना कितना कठिन। और समर्थ पुरुष कठिन काम ही करते हैं।

यही राम जब डा० शिवमङ्गलसिंह सुमनकी कल्पनाके लोकमें आये तो उन्हें दूसरे ही रूपमें दिखायी दिये। वे उन्हें उस क्रान्तिकारीके रूपमें दिखायी पड़े, जिसने हमारे जीवनमें आमूल परिवर्तन किया। उन्होंने हमें सिखाया कि भोजन केवल जानवरको काटकर नहीं किया जा सकता, वरं फसल काटकर भी किया जा सकता है। उन्होंने न केवल अहिल्या (वह धरती जिसपर हल न चला हो) का उद्धार किया, वरं उस राजाकी बेटीसे विवाह किया जो स्वयं हल लेकर धरती तोड़ता था। सीता धरतीकी बेटी थीं और इसलिये हलकी नोकसे उगी हुई फसल भी उन्हींका प्रतीक है। अपने पौरुषका पता उन्होंने उसको भी दिया, जो धरतीकी इस बेटीका हरण करके जीना चाहता था और उन्होंने धरतीकी इस नयी बेटीकी अग्निपरीक्षा करके ग्रहण किया। रामायणका एवं रामका यह नया रूप सर्वथा अपूर्व और आदरणीय है।

राम इस प्रकार जब-जब भी जिस-जिसके मानसमें उतरे, उसने उन्हें नये रूपमें देखा। वे लीलाधारी कब क्या रूप धारण करेंगे—क्या पता ! दुष्टकी दुष्टताका अन्त करनेके लिये आज भी वे भाँति-भाँतिसे हमारे सामने आते हैं। हर रूपमें वे वन्दनीय हैं, अनुकरणीय हैं। गुप्तजीके शब्दोंमें—

वहाँ कल्पना भी सफल, जहाँ हमारे राम।

मानवताके बिखरे मोती

(संकलनकर्ता—श्री० श्रीराम माधव चिंगले, एम्० ए०)

आज हम यहाँ कल्याणके पाठकोंके लाभार्थ हमारे सद्गुरु तथा अवन्तिकानिवासी श्रेष्ठ जीवन्मुक्त महात्मा स्व० श्रीलक्ष्मणसिंहजीके जीवनमेंसे 'मानवताके कुछ खरे, बिखरे मोती' चुनकर भेंट करते हैं।

(१) द्वितीय महायुद्धका समय था। अन्नकी कमी थी। राशनिंगका जमाना था। साथ ही वर्ष-भर वर्षा न होनेके कारण मालवाकी दोनों फसलें नष्ट हो गयी थीं। अन्न दुर्लभ हो गया या बहुत ही महँगे दामों मिलने लगा। संग्रहकी प्रवृत्तिने जोर पकड़ा। गरीबोंकी बुरी दशा हुई। ऐसी स्थितिमें हमारे श्रीलक्ष्मणसिंहजीका ध्यान कुछ ऐसे गरीबोंकी ओर गया, जो कई दिनोंके अन्नाभावके कारण आसन्नमृत्यु हो रहे थे। वे इतने निर्बल हो चुके थे कि कहीं माँगनेके लिये भी उठकर नहीं जा सकते थे। यह दृश्य भला भूतमात्रमें भगवान्‌के दर्शन करनेवाले महात्मा कैसे सहन कर सकते हैं ? आपके लिये यह दृश्य असह्य हो गया और आप उनके कष्टनिवारणमें प्राणपणसे जुट गये। घरसे जितना दिया जा सकता था, दिया। घरमें अशान्ति न हो, इसलिये रातको चुपकेसे वे डिब्बोंमेंसे रोटियाँ तथा आटा निकाल लेते और डिब्बे खुले छोड़ देते ताकि यह समझा जाय कि चूहे इन्हें साफ कर गये। किंतु इससे भी काम न चला। फिर तो भले मनुष्योंके घर जा-जाकर 'मैं भूखा हूँ' कहकर रोटीके लिये प्रार्थना करते। महात्माओंका 'मैं' संकुचित न होकर व्यापक तथा विशाल होता है। इस सभ्य भिखारीको देखकर लोग समझ जाते कि इसमें अवश्य कुछ रहस्य है। डटकर भिक्षा मिलती। इसका विनियोग उन क्षुधितोंकी भूख-निवारणके लिये होता। फिर आपने प्रयत्न करके कुछ धनिकोंसे कह-सुनकर शहरमें अन्न-वितरणके केन्द्र खुलवा दिये। इस प्रकार आपने अनेकों भूखे नर-नारियोंको मौतके मुँहसे बचा लिया।

(२) दीवाली आती; किंतु आपका दीवाली मनानेका ढंग अनोखा होता था। घरसे जितने मिल सकते थे, उतने रुपये लेते और उनसे मिठाई खरीदकर गरीबों, अपाहिजों और दीन-दुखियोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर, स्वयं उनके पास जा-जाकर उन्हें देते, उनकी प्रसन्नताके कारण आपको जो आनन्द आता था, उसका पारावार नहीं। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**।

(३) प्रतिदिन बाहर घूमने जानेके समय जेबमें कुछ छुट्टे पैसे अवश्य ले जाते। जेब खाली करके ही घर लौटते। इन पैसोंसे दीन-दुखियोंकी थोड़ी-बहुत सेवा होती थी। आप कहा करते थे कि घरमें सुख-शान्तिका वातावरण रखनेके लिये दान-धर्म आवश्यक है। आपका मन्त्र था—'दिया सो बोया, खाया सो खोया'। आयुर्वेदके सुप्रसिद्ध आचार्य वाग्भटने आरोग्य-प्राप्तिके हेतु कुछ मानसिक तथा आध्यात्मिक नियमोंका पालन आवश्यक बतलाया है, उसमेंसे दान-धर्म भी एक महत्त्वका नियम है—

नित्यं हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥

(४) अनासक्ति भी आपमें पूर्णरूपसे थी। घरके लोगोंमें आपको कुछ परिग्रह, लोभ तथा संग्रहकी वृत्ति दिखायी दी। आपने बहुत-कुछ समझाया-बुझाया; किंतु इसका विशेष परिणाम न हुआ। इस वृत्तिपर रोक लगनेके स्थानपर वह बढ़ती हुई दिखायी दी। इस अनिष्ट प्रवृत्तिको भला स्वयं अपने ही घरमें कौन संत या महात्मा सहन कर सकता है ? प्रत्यक्ष, सक्रिय पाठ पढ़ाकर इस कुप्रवृत्तिको जड़से हटानेका संकल्प आपके मनमें जगा। एक दिन जब आपके

भरोसे घर छोड़कर घरके सब लोग बाहर चले गये, तब आप भी मकानको अधखुला छोड़कर बाहर चल दिये। बस, फिर क्या था! घरके भेदी चोरोंने यह अवसर पाकर घर साफ कर दिया। आप जब घर लौटकर आये, तब इस दृश्यको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। कहने लगे, 'घरका रोग कटा! चोरोंको धन्यवाद! इस घरको आध्यात्मिक पतनसे बचाया!' कुछ समयके अन्तरसे दो बार यह लीला आपको करनी पड़ी। फिर यह अनिष्ट-प्रवृत्ति घरमें नहीं दिखायी दी।

(५) परोपकार—(क) समाजके उपेक्षित एवं दीन-दुखियोंकी ओर आपका विशेष ध्यान रहा करता था। एक स्त्री कुछ विक्षिप्त-सी थी। समाजकी उपेक्षा, उपहास तथा तिरस्कारने उसे पागल बना दिया। अन्ततोगत्वा वह अपनी मनुष्यताको भी पूर्णतया खो बैठी। अपनी ही नवजात बच्चीके टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें कुत्तोंके आगे डाल दिया और साथ ही रौद्र हास्य भी प्रकट करती रही। इस रौद्र-बीभत्स मानवताविहीन दृश्यने आपका हृदय हिला दिया और आपने इस स्त्रीका उद्धार करनेकी ठान ली। इस विषयमें पहला कदम आपने उसकी पेटकी आग बुझानेकी दृष्टिसे उठाया। उसके खाने-पीनेकी अच्छी तरह व्यवस्था कर दी। एक होटलवालेसे कह दिया कि वह जब, जो और जितना चाहे, वह उसे दिया जाय और पैसे आपके खातेमें लिखे जायँ। दो साल-तक यह काम चलता रहा, जिसमें लगभग एक हजार रुपयेका बिल हुआ। फिर आपने उन कारणोंको दूर करना शुरू किया, जिससे उसकी मानसिक व्यग्रता बढ़ती थी। लोगोंके द्वारा उसकी छेड़छाड़ बंद करवा दी। साथ ही अपने विशुद्ध प्रेमसे भी उसे सराबोर करते रहे। उसे अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनाते और आम-रास्तेपर उसका सिर अपनी गोदीमें रखकर उसे घंटों आरामसे इस स्नेह-शय्यापर सोने देते। दो सालके बाद वह किसी साधारण स्त्रीसे भी अधिक अच्छी हो गयी। अपने पिताके पागलपनके कारण एक त्रस्त व्यक्तिने उसे देखकर कहा She is more than normal. आपके उपकारोंका स्मरण करती हुई वह स्त्री अपने घर चली गयी। उसका पुनर्जन्म हुआ। पुनश्च उसने अपनी खोयी हुई मानवता पायी—

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ६)

(६) परोपकार—(ख) एक बार आप कुछ नोट लेकर किसीका हिसाब चुकाने जा रहे थे। रास्तेमें एक गरीब स्त्री मिली, जिसकी लड़की एक कठिन व्याधिसे ग्रस्त थी। डाक्टरने उसे कुछ कीमती इन्जेक्शन देनेके लिये कहा था; किंतु उसके घरमें तो खानेके भी लाले थे। आपने तुरंत वे नोट उसको दे दिये। मानो उसीके लिये घरसे लेकर चले हों। घर आकर सारा हाल कह सुनाया।

(७) सेवा—मनुष्यकी सेवाद्वारा परमेश्वरकी सेवा करना तो संतोंका स्वभाव ही होता है। एक समयकी बात है। शहरमें महामारीका प्रकोप था। एक वेश्या उसकी शिकार हुई। किंतु ऐसे समय उसकी सेवा कौन करता! आपको पता चलते ही आप उसकी सेवामें जुट गये। डाक्टरको बुलाकर उसकी चिकित्सा करायी। वह बच न सकी। किंतु आपकी गोदमें सिर रखकर उसने शान्तिपूर्वक प्राण छोड़े। उसकी विशुद्ध प्रेमकी भूखकी आपने पूर्ति की। कभी भी कोई रोगी आता तो तुरंत आप उठ जाते और अस्पताल खोलकर उसी समय उसका उपचार करते। स्वयं ही नुस्खा लिखते, स्वयं ही दवा देते, स्वयं ही मरहम-पट्टी भी करते। इस संस्मरणके लेखकको स्वयं इस प्रकारके असमय उपचारका लाभ मिला है और मानवताके दर्शन हुए हैं। आवश्यकताके समय डाक्टर

महोदय गरीबोंको निजके पैसेसे मूल्यवान् दवाएँ देते, जिन्हें अस्पतालकी ओरसे नहीं दिया जा सकता था। रात्रिके समय आप लालटेन हाथमें लिये घूमने जाते—गरीबोंकी, हरिजनोंकी बस्तीमें। जहाँ इनके अनायास आगमनका गरीब लोग पूरा-पूरा लाभ उठाते। एक बार आपके कुटुम्बपर बड़ी आपत्ति आयी; किंतु कष्ट तथा आपत्ति एवं संकट-कालमें ही मनुष्यके धैर्य तथा उसकी मानवताकी सच्ची परीक्षा हुआ करती है। आपकी धर्मपत्नी कुछ काल बीमार रहकर भगवान्‌के घर चल दीं। रातको यह घटना हुई। सबेरे लोगोंको इस बातका पता चला। लोग जुटने लगे, किंतु आप अस्पतालमें रोजकी तरह योग्य समयपर जाकर उपस्थित हुए और मरीजोंकी सेवामें संलग्न हुए। इधर जब पूरी तैयारी हो गयी, तब आपसे चलनेके लिये प्रार्थना की गयी। किंतु आपने साथमें जानेसे इन्कार कर दिया और कहा कि 'अब मेरे जानेसे लाभ ही क्या है? इतना समय इन गरीबोंकी सेवामें बिताना ठीक होगा। इन्हें क्यों व्यर्थ कष्ट पहुँचाया जाय?' डॉक्टर देव अब नहीं हैं; किंतु असंख्य हृदयोंमें उनकी मानवताकी पावन स्मृति अमर है।

लोभ ही दरिद्रता है, इसको दूर कीजिये

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

सारे संसारमें सर्वेश्वर व्याप्त हो रहा है। वह सर्वतः परिपूर्ण है। जो पूर्ण होता है, उसमें अभाव नहीं होता। जहाँ अभाव है ही नहीं, वहाँ दरिद्रता नामकी वस्तु कहाँ रह जाती है? फिर भी आज जो संसारके सभी प्राणी अभावग्रस्त हो रहे हैं एवं दरिद्रतासे भयभीत होकर पीले पड़ते जा रहे हैं—यह केवल उनकी बड़ी भारी भूल है।

प्रारब्धकी प्रेरणासे मनुष्यको भौतिक वस्तु, व्यक्ति एवं पदार्थोंकी प्राप्ति होती रहती है। अविवेकके कारण मनुष्य उन प्राप्त वस्तु एवं पदार्थोंका सदुपयोग नहीं कर पाता; किंतु उनमें आसक्त होकर ममता कर बैठता है। ममताके कारण वह उन वस्तुओंके विनाशकी आशङ्का करके अपने मनमें सदा भयभीत रहा करता है। वह चाहता है कि उसकी वे प्राप्त वस्तुएँ सदा बनी ही रहें। इसीको वासना कहते हैं। वासना ही मानव-हृदयकी सबसे बड़ी दुर्बलता है और यही दरिद्रताकी जननी है अर्थात् यहींसे दरिद्रता प्रारम्भ होती है।

यही नहीं, जब मनुष्यको कोई वस्तु प्राप्त हो भी जाती है तो वह उससे संतुष्ट नहीं होता। 'और मिले, और मिले' की बीमारी उसे घेर लेती है। यही लोभ है, जिसके कारण मनुष्य वस्तुओंका दास बन जाता है। यह लोभ ही दरिद्रताका जनक है।

विचार करके देखिये। जिसने वासनापर विजय पा ली है, जिसने वस्तुकी दासताका नाश कर दिया है, जिसने निर्लोभता अपना ली है, जो प्राप्त वस्तुओंका दुरुपयोग न करके उनका सदुपयोग करता है और जो कर्तव्यपरायण है, वह मनुष्य क्या कभी दरिद्रताका अनुभव कर सकता है? कभी नहीं। स्मरण रक्खें—

निर्लोभता ही दरिद्रताकी अचूक दवा है।

चाह मिटी चिंता गई, मनुवा बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिये, सोई साहनसाह॥

सियावर रामचन्द्रकी जय!

उत्तरदायी कौन ?

(लेखक—श्रीसुन्दरलालजी बोहरा)

संसारमें साधनाके द्वारा ही हम सफलताको प्राप्त कर सकते हैं। जिस कोटिकी साधनाके हम साधक हैं, उसी कोटिकी सफलता हमें अन्ततोगत्वा प्राप्त होगी। हमारी साधना योगमार्गीय अथवा गार्हस्थ्यमार्गीय हो सकती है; किंतु उसके उपादान तथा निष्पादनके नियम अनिवार्यरूपसे सुव्यवस्थित तथा संयत होने चाहिये। अपनी साधनाके संयममें तनिक-सी भी शिथिलता लानेपर जब आत्मनिष्ठ संन्यासी तक भ्रष्ट हो जाते हैं, तब हमारी तो बिसात ही क्या है! अतः यह ध्रुव सत्य है कि संयमके अभावमें साधकको सफलताका साक्षात्कार तथा सत्यकी अनुभूति कदापि नहीं हो सकते।

साधकसे हमारा तात्पर्य उस व्यक्तिसे है, जो स्व-कल्याण अथवा पर-कल्याणके हेतु अपनी शारीरिक तथा आध्यात्मिक शक्तियोंको साङ्गोपाङ्ग विधिसे केन्द्रित करके अपने निर्धारित लक्ष्यकी पूर्ति तथा प्राप्तिमें आदर्शरूपसे कटिबद्ध रहे। किंतु प्रकृतिद्वारा देहका संचालन तथा संवर्द्धन होनेके कारण साधक-पर बाह्य वातावरण, खाद्य-पदार्थ तथा संगतिका विचारणीय प्रभाव पड़ता है। बिना सुव्यवस्थित साधनोंके बाह्य वातावरण-के प्रभावसे साधक अपने-आपको मुक्त नहीं रख सकता। साधक उसी क्षण आत्मनिर्भर कहा जायगा जब उसमें विवेक तथा विचारकी शक्ति परिपक्व अवस्थापर आ पहुँचेगी। जिस प्रकार एक माली अपने नये-नये उद्यानको बिना काँटोंकी चहारदीवारीके खुला छोड़ना सहन नहीं कर सकता, ठीक उसी प्रकार एक साधकका निर्देशक उसे अनुशासन तथा अनुशीलनका पाठ पढ़ाये तथा व्यवहृत कराये बिना संतुष्ट तथा सहिष्णु नहीं रह सकता। यदि यह सुरक्षा तथा संयमकी परम्परा ही जगतीसे उठा दी जाय, तब तो फिर विश्वमें जीवन ही कहाँ रह जायगा? जबतक सुकुमार कली तथा पुष्पकी रक्षा नहीं की जायगी, तबतक हम पौधेसे सुगन्धित फूल एवं मधुर फलकी अपेक्षा कैसे कर सकते हैं? और यदि हम आधुनिक प्रचलित 'स्वतन्त्र विकास' (Development without any outer interruption) के कट्टर समर्थक बन जायँ तो नवजात कलीकी भी वही स्थिति होगी जो एक तिनकेकी पवनमें होती है।

आज विषाद इसी बातका है, बेटा यह कदापि सहन नहीं कर सकता कि बाप उसके कार्योंमें किसी भी प्रकारका अभिमत व्यक्त करे; विद्यार्थी यह शतांशमें भी सहन नहीं कर सकता कि अध्यापक उसे विद्यालयके बाहर भी कुछ परामर्श प्रदान करे; कर्मचारी यह नहीं चाहते कि कारखाने अथवा कार्यालयके बाहर अपने अधिकारियोंसे उनका किसी भी प्रकारका आदर्श अथवा आध्यात्मिक सम्बन्ध बना रहे। आखिर यह ऐसा क्यों? ऐसा इसलिये कि प्रत्येक व्यक्तिपर 'स्वतन्त्र किंबहुना स्वच्छन्द विकास' की धुन सवार है। 'साधना जाय भाड़में, संयम जाय समुद्रमें; हम तो जन्मतः पूर्ण ही हैं'—की प्रवृत्ति आज जनसमूहको भ्रष्ट कर रही है। आज हम श्मशान-वैराग्यकी कुण्ठासे बुरी तरह ग्रस्त हैं। हम नाचना भी चाहते हैं, गाना भी चाहते हैं, अध्ययन भी करना चाहते हैं और साथ-ही-साथ स्वतःसिद्ध महान् गुरु गोरखनाथ भी बने रहना चाहते हैं। इतिहासमें शायद ही कोई ऐसा उदाहरण हो, जहाँ कोई साधक वाराङ्गनाओं तथा वासनासे घिरा रहकर भी आत्म-कल्याण कर सका हो और परिणाम यह हो रहा है कि हम आमकी अपेक्षा आक अधिक होते जा रहे हैं। पश्चिम-प्रसूत 'स्वतन्त्र विकास' की सर्वव्यापी संक्रामक व्याधिने हमारे व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रिय जीवनको कसैला बना दिया है। आज जनसमूह ग्वालेसे हीन उन उच्छृङ्खल पशुओंके समान हो गये हैं, जो अपनी मर्जीसे ही, बिना किसी भी प्रकारके खेत या खलिहान-का विचार किये, चरने निकल पड़े हैं। उन्हें पग-पगपर दण्ड भुगतना पड़ता है; फिर भी वे चरनेसे बाज नहीं आते और इस प्रकारका संयम-नियम-विहीन जीवन बिताते हुए वे अकाल मृत्युके शिकार होते हैं—वे न तो संतोषजनकरूपसे पुष्ट ही हो पाते हैं और न पूर्ण ही। कितनी निराश एवं दुःखपूर्ण है आज हमारी यह स्थिति!

आज हमारे मंदिर भ्रष्ट हो गये हैं; भ्रष्ट हो गये हैं हमारे मानवताके समर्थक महान् मठ; पतित हो गये हैं पर-कल्याण-का केतु फहरानेवाले जनसेवक; चरित्रसे विहीन हो गये हैं हमारे सुकुमार किशोर; ईमान और इन्सानियतसे गिर गये हैं हमारे प्रशासक; उच्छृङ्खल हो गया है हमारा पवित्र आदर्श-शिरोमणि नारी-समाज; और असह्य आत्मपतन हो गया है

समाज-निर्माता अध्यापकोंका ! जीवनके हर क्षेत्रमें आज अनुशासनहीनता और उच्छृङ्खलताका दूषित साम्राज्य विस्तृत हो रहा है । चिकित्सक स्वयं जीर्ण व्याधिसे ग्रस्त हैं, तब भला चिकित्सा करे भी तो कौन ?

और परिणामस्वरूप जनसमूह किंकर्तव्यविमूढ़ स्थितिमें, चौराहोंपर खड़े हैं । सेवा एवं सहयोगका दम भरनेवाले मिशन स्वयं मानके पीछे मरे जा रहे हैं । **'अभ्युत्थानं धर्मस्य'** के टीकाकार आज कहाँ छिपकर रह गये ?

चिन्तन एवं विश्लेषणके आधारपर यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि जड़ोंमें विकार आनेपर ही वृक्षके पत्ते पीत होने लगते हैं । हमारे समाजवृक्षकी जड़ विद्यार्थी हैं । अनुशासनहीनता तथा अनुत्तरदायित्वका विकार वहींसे प्रारम्भ होकर जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें प्रसारित होता है । किंतु विद्यार्थियोंमें आजके प्रचलित अर्थकी अनुशासनहीनताकी प्रवृत्ति जन्मजात नहीं है, सङ्गजात है; क्योंकि 'तुकुम तासीर'की अपेक्षा 'सोहब्बत असर' अधिक प्रभावोत्पादक होता है ।

आज प्राचीन भारतीय-परम्पराके ऋषि-आश्रम नहीं रहे, जहाँ विद्यार्थियोंके सर्वतोमुखी कल्याणके साधनोंकी शिक्षा होती थी और उसका सक्रिय अभ्यास कराया जाता था । आधुनिक विद्यालय कारखानों तथा सिनेमाके वातावरणमें 'साधना'की विधियाँ बताते हैं और इसके साथ ही विद्यार्थियोंके स्वास्थ्य तथा सच्चरित्रताकी सुरक्षाका दम भी भरते रहते हैं ! भला कभी आम तथा आककी भी मित्रता पनपी है । हमारी शिक्षाप्रणाली आज हर नवयुवतीको नवयुवकमें बदलनेपर उतारू है । प्रकृतिका तिरस्कार करके आज पथभ्रष्ट इन्द्रिय-उपासक मनोवैज्ञानिकोंकी सलाह तथा सहयोगको स्वीकारकर सहशिक्षाको पनपाया जा रहा है । भला, सहशिक्षाके बिना पुरुष नारीको एवं नारी पुरुषको सही ढंगसे कैसे पहचान सकते हैं ? यदि और अधिक जायल होकर कहा जाय तो हमारे विद्यालय आज विद्याके केन्द्र कम, वासनात्मक विवाहके केन्द्र अधिक हो गये हैं—इसीसे आये दिन दुःखद दुर्घटनाएँ होती हैं ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।

हर बातमें 'अमेरिका ऐसा करता है; यूरोपीय देश ऐसा करते हैं; तब भला हम भी वैसा ही क्यों न करें ।' कहनेका तात्पर्य यह है कि आज हमारे स्व-संकल्पोंका तो जैसे दिवाला ही निकल गया है । हर बातमें हम नकल करते हैं और परिणाम यह हुआ है कि आज दिन-दूनी, रात-चौगुनी अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियोंकी बाढ़ आ गयी है । हम नकलके इतने आदी हो चुके हैं कि आज हमारी स्वयंकी शकल ही नहीं पहचानी जा सकती !

कारखानोंकी तरह विद्यालय कोई माल-उत्पादक-केन्द्र थोड़े ही हैं, जो अहर्निश माँगसे भी अधिक मालका उत्पादन करते जायँ । लेकिन हमें विद्याका वाणिज्यीकरण (Commercialization) ही पसंद है । पुस्तकें बढ़ रही हैं, परिणामका पतन हो रहा है । हम अध्यापकोंकी अपेक्षा क्लर्कोंकी ही भर्ती अधिक करते हैं । हम गुणकी अपेक्षा परिणामपूजक बन रहे हैं । (We are going quantitative more rather qualitative.) अध्यापकोंका संन्यास भ्रष्ट हो चुका है । अध्यापक चाहते हैं उनका वेतन बढ़े, भत्ता बढ़े; उन्हें अधिक ट्यूशन मिलें; उन्हें अधिक अधिकार मिलें । एक अध्यापक आज अध्यापक कम एवं प्रशासक अधिक है । (He is less a teacher and more a Tojo.) हर शिक्षा-शास्त्री अधिक-से-अधिक वेतन एवं अधिकार पानेकी ताकमें है । मूलरूपमें विद्यार्थियोंमें व्याप्त असंतोष एवं अनुशासनहीनताके उत्तरदायी बहुत अंशमें अध्यापक ही हैं । विद्यार्थी क्या करें—

कारन तें कारजु कठिन होइ दोसु नहिं मोर ।
कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर ॥

अध्यापककी स्थिति उस माली-जैसी हो गयी है, जो बिना ऋतु ही फलोंको पकानेकी कुचेष्टा करता है । आधुनिक शिक्षाका कोई समर्थक यह कहनेका साहस तो करे कि उसने अपने सम्पूर्ण अध्यापन-कालमें इतने उद्दालक अथवा आरुणि तैयार किये हैं । वे ऐसा इसलिये नहीं कह सकते; क्योंकि उन्हें स्वयंके पाँव जलते हुए नहीं दीखते, पर्वतपर लगी हुई आग दीखती है—

पगां बळती नीं दीसै, डूँगर बळती दीसै है ।

आत्म-विश्लेषणसे उन्हें परहेज है ।

अध्यापकके आहार-विहारका भी विद्यार्थियोंपर प्रभाव पड़ता है । यदि एक धूम्रपान तथा मद्यपान करनेवाला अध्यापक यह दावा करे कि उसके विद्यार्थी इन कुटेवोंसे मुक्त रहें, तो वह अपने-आपको धोखा देता है । और-तो-और,

आज विद्यालयोंके वार्षिक दिवसपर जबतक मञ्चपर नवयुवती छात्राएँ अपना नृत्य तथाकथित अध्यापकों, सहपाठियों तथा दर्शकोंको न दिखायें, तबतक सारा ही आयोजन निम्न-स्तरका समझा जाता है। आज अध्यापक छात्र तथा छात्राओंको नट-नटनियाँ बननेके लिये प्रोत्साहन देते हैं—'आखिर उन लोगोंमें 'कला'का विकास तो करना ही होगा।' मानो सारे कलाकार शुकदेव मुनि ही हैं।

'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।'

विद्यार्थियोंमें अनुशासनहीनताका उफान उनके पारिवारिक संरक्षकोंद्वारा भी उठाया जाता है। यदि विद्यार्थीके हित-चिन्तनकी दृष्टिसे अध्यापक उसे डाँट-डपट देता है तो अध्यापककी शिकायत उसके उच्चाधिकारियोंसे की जाती है। परिणामस्वरूप अध्यापककी अपने मिशनमें श्रद्धा कम हो जाती है। अतः विद्यार्थियोंके पारिवारिक संरक्षक उनके सांस्थानिक कार्योंमें अपनी नाक न घुसेड़ें तो यह विद्यार्थियों तथा अध्यापक—दोनोंके लिये हितकर व्यवहार होगा।

विद्यार्थियोंमें व्याप्त अनुशासनहीनता तथा उच्छृङ्खलता-का तीसरा कारण है—सिनेमा। माता-पिता चाहते हैं उनके बच्चे सिनेमाद्वारा अपना मनोरञ्जन करें। अध्यापक चाहते हैं, उनके विद्यार्थी सिनेमाद्वारा अपने ज्ञानका क्षेत्र विस्तृत करें। शिक्षा-शास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक इस बातके लिये कटिबद्ध हैं कि बिना सिनेमा देखे सत्यको पहचानना ही दुष्कर है। फिर इसमें विद्यार्थियोंका भला क्या दोष? बच्चों तथा किशोरोंको जहाँ भी गुदगुदीका-सा आनन्द मिलने लगता है, फिर वे लाख बार समझानेपर भी उस दिशामें जाना नहीं छोड़ते—

इस घरको लग गयी आग इस घरके चिरागसे।

आये दिन अत्यन्त अवाञ्छनीय लज्जाजनक दुर्घटनाएँ होती रहती हैं; लेकिन यहाँ किसको चिन्ता है। हमारे शिक्षा-शास्त्रियोंपर एक ही धुन सवार है, कैसे भी हो, उनकी फ्रायड-भक्तिमें अन्तर नहीं आना चाहिये। सेक्स, प्रधान साहित्यका अधिक-से-अधिक प्रचार हो; सेक्सकी शिक्षा पाठ्यपुस्तकोंके द्वारा दी जाय; सेक्सकी शिक्षा सिनेमा-के द्वारा दी जाय; क्योंकि सेक्स ही सर्वोपरि है। सिनेमा-के व्यवसायी क्या करें, उन्हें तो पैसा कमाना है और सरकार तथा शिक्षा-विभागकी ओरसे उन्हें खुला प्रोत्साहन और पुरस्कार मिल रहा है और यों भी व्यवसायियोंको नीतिसे क्या लेना-देना—

मुर्देसे नहीं रिश्ता हमारा, हमें तो कफनसे यारी।

हमारी शिक्षण-संस्थाओंको भ्रष्ट करनेमें राजनैतिक पार्टियोंने भी कोई कसर नहीं रख छोड़ी है। वह पार्टी ही अधूरी है जिसमें विद्यार्थियोंको भर्ती न किया जाय। युवकोंके विकास (किंबहुना विनाश) के लिये यूथ कांग्रेस, यूथ फेडरेशन, समाजवादी युवक-समाज, अखिल भारतीय विद्यार्थी-परिषद्का गठन किया जाता है। युवक साधकोंको उनके साधना-पथसे हटाकर तोड़-फोड़ तथा उथल-पुथल-के दूषित हथकंडोंका प्रशिक्षण दिया जाता है। जहाँ एक ओर विद्यार्थियोंको विद्यालयोंमें अध्यापकोंके विरुद्ध 'विद्यार्थी-परिषद्' बनानेके लिये उकसाया जाता है, वहाँ दूसरी ओर अध्यापकोंको 'टीचर्स एसोसिएशन' बनानेके लिये प्रोत्साहन दिया जाता है। इसका अर्थ हुआ आज एक ओर 'बाप यूनियन' अपने हितोंकी रक्षाके लिये 'इन्कलाब जिंदाबाद' का नारा बुलंद कर रही है, वहाँ दूसरी ओर 'बेटा यूनियन' 'हड़ताल हमारा नारा है' का गगनभेदी शोर करनेपर उतारू है। हमारे विद्यालय विद्यालय न रहकर ट्रेड यूनियनोंके संघर्ष-स्थल बन गये हैं। विद्यालयोंमें विद्यार्थी पढ़नेकी अपेक्षा पत्थर चलाना ही सीखते हैं। वस्तुतः यदि राजनैतिक पार्टियोंसे विद्यार्थियोंको निकाल दिया जाय तो उन पार्टियोंका अस्तित्व ही मिट जायगा।

आज अध्यापकोंकी नियुक्ति भी राजनैतिक आधारपर ही की जाती है। विश्वविद्यालयोंमें उपकुलपति, रजिस्ट्रार तथा डीन प्रायः वे ही लोग बनाये जाते हैं जो 'तिकड़म' की कलाके मजे हुए खिलाड़ी होते हैं। अनुभवी तथा कुशल शिक्षकगण मुँह ताकते रह जाते हैं और बात-की-बातमें 'धर-पटक' करनेवाले तथा हड़तालदिमागी तथाकथित अध्यापकोंकी पदोन्नति कर दी जाती है। सभी शिक्षा-संस्थाएँ ऐसी नहीं हैं। इस दोषसे सर्वथा या अधिकांशमें मुक्त भी बहुत-सी संस्थाएँ हैं। परंतु अधिकांश शिक्षाकेन्द्र ऐसे हैं जो इस राजनैतिक दुष्प्रभावसे बुरी तरह प्रभावित हैं। लालफीताशाही तथा तिकड़मके भरोसे ही उनका जीवन चल रहा है। सरकार बदल गयी है, शिक्षा नहीं बदली। यही कारण है कि आज कई कुशल किंतु स्वाभिमानी प्राध्यापकों एवं प्रवक्ताओंने शिक्षण-संस्थाओंसे संन्यास ले लिया है। ईमानदारीसे देखा जाय तो आज

देशमें कुशल एवं कार्यशील अध्यापकोंका अकाल-सा पड़ गया है । फिर शिक्षण-संस्थाओंमें अनुशासनहीनता तथा उच्छृङ्खलता पनपे तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं ।

अतः यदि हम चाहते हैं कि हमारे देशको उद्दालक, आरुणि तथा नचिकेता-जैसे विद्यार्थी प्राप्त हों तो विद्यालयोंसे राजनैतिक प्रभावको अविलम्ब हटा देना होगा । चाहे प्रशासक दल हो, अथवा विरोधी दल, किसीको भी विद्यार्थियोंके मामलोंमें 'ट्रेड यूनियन'के कीटाणु नहीं बिखेरने चाहिये । जहाँ दलबंदी है, वहीं दीनता है और जहाँ दीनता है, वहाँ नरक समीप ही होता है । जहाँतक विद्यार्थियोंके सांस्थानिक विकासकी बात है, सारा दायित्व अध्यापकोंपर छोड़ दिया जाय; जहाँतक उनके सैनिक-विकासकी बात है, सारा दायित्व सरकारपर छोड़ दिया जाय । देशके प्रशासक एवं प्रवक्तागण अपने-अपने दायित्वको ईमानदारी तथा मानवताके साथसे निभायें । देशका चारित्रिक विकास इसीमें निहित है ।

दैहिक साधन

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'वत्स ! तुम यह श्रम प्रतिदिन क्यों करते हो ?' महर्षि शाकल्य जबसे इस वनमें आये और उन्होंने इस जलस्रोतके समीपकी गुहाको अपना साधनस्थल बनाया, यह वृद्ध वनवासी कोल उनके यहाँ सूखी समिधाएँ, कन्द और फल प्रतिदिन रख जाता है । वह आता है, भूमिमें मस्तक रखकर ऋषिको प्रणाम करता है, अपना गट्ठर एक ओर रखता है । समिधाएँ एक ओर, कन्द और फल तथा कुछ बड़े-बड़े पत्ते एक ओर रखकर गुहाके आस-पासकी भूमि बुहारने लगता है और यह काम पूरा करके फिर भूमिपर मस्तक रखकर चला जाता है।

वृद्ध कोलको इससे कुछ मतलब नहीं है कि ऋषिने उसे देखा या नहीं । वह न एक शब्द बोलता है और न इसीकी अपेक्षा करता है कि ऋषि उसे आशीर्वाद दें । अनेक बार ऋषि उसे गुफामें नहीं दीखते । वह सदा एक ही समयपर नहीं आ पाता । ऋषि स्नान करते होते हैं या वनमें गये होते हैं । वह वैसे ही गुफाकी ओर मुख करके ऋषिके आसनको प्रणाम करता है आनेपर और जाते समय भी । उसने अपने आप एक सीमा मान ली है । गुफाके आस-पासके उतने क्षेत्रसे वह बाहर ही रहता है और उससे बाहरके ही क्षेत्रको स्वच्छ करता है । उसे लगता है—उसके अपवित्र देहकी छाया ऋषिके हवनादि स्थलपर नहीं पड़नी चाहिये ।

वर्षा-आँधी और शीत—वनवासी जातियोंके लिये ये कोई बाधाएँ नहीं हैं । प्रकृतिकी उन्मुक्त गोदमें खेलना उन्होंने जन्मसे सीखा होता है । वृद्ध प्रबल वर्षामें भी किसी दिन रुका नहीं । वह तो तब भी नहीं रुका था, जब उसका देह ज्वरसे तप रहा था । उस दिन भी उसने अपने स्थानपर अपनी पत्नी या पुत्रको ऋषिके लिये काष्ठ ले जाने नहीं दिया था ।

महात्माओंकी दशा भी विचित्र है । सृष्टिकर्ता भी नहीं जानते कि ये बाबाजी लोग कब क्या करेंगे । नहीं ध्यान देंगे तो पूरी प्रलय हो जाय, आँख उठाकर देखनेकी आवश्यकता इन्हें नहीं जान पड़ेगी, और ध्यान देंगे तो एक टाँग टूटी चींटीकी सेवामें भी अपने देहको भूल बैठेंगे । महीनों हो गये इस वृद्धको लकड़ियाँ और कन्द लाते, महर्षि शाकल्यको यही पता नहीं लगा कि कोई उनकी सेवा कर रहा है । आज इधर ध्यान गया उनका तो वृद्धको देखते ही आसनसे उठे और सीधे उसके सामने आ खड़े हुए ।

'क्या चाहिये तुम्हें ?' अब देवाधीशको भी भय लगना चाहिये । महर्षिका क्या ठिकाना । वे इस काले-कलूटे, लँगोटीधारी बूढ़े कोलको सशरीर—इसी देहसे इन्द्रासनपर बैठनेका वरदान दे दें तो सृष्टिमें उनका प्रतिवाद करनेवाली शक्ति कहाँसे आयेगी ?

'डरो मत ! हिचको मत ! तुम्हें जो कुछ माँगना हो माँगो !' सुप्रसन्न तपस्वीके अभय स्वर—कोई सुर भी इसकी स्पृहा ही कर सकता है ।

'इस वनमें कन्द और फल बहुत हैं ।' वृद्धने बड़ी नम्रतासे कहा—'आपकी कृपासे मेरे दोनों पुत्र स्वस्थ बलवान् हैं । वे मेरा आदर करते हैं । मुझे तो कुछ भी नहीं चाहिये ।'

'तुम यह मेरी सेवा प्रतिदिन क्यों करते हो ?' महर्षि भी इस अशिक्षित, असंस्कृत वन्य मानवकी निष्कामतासे चकित रह गये थे ।

'मेरा बाप मरने लगा था तो उसने मुझसे कहा था' वृद्धने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'कभी कोई ऋषि-मुनि इस वनमें आ जायँ तो अपने बनते उनकी सेवा करना । मुनियोंकी सेवासे भगवान् प्रसन्न होता है ।'

'मैं और सेवा कर भी क्या सकता हूँ ? आपके चरण भी छू जायँ तो आपको स्नान करना पड़े ।' वृद्ध कह रहा था—'लकड़ियाँ और ये कन्द तो वनके हैं । इनमें मेरा क्या है । लड़कोंको मैंने कह दिया है कि 'एकल, सुअर, लागू पड़नेवाले बाघ आदिको वे यहाँसे दूर खदेड़नेमें भूल न करें ।'

'भगवान् प्रसन्न हो जायँ तो तुम उनसे क्या चाहोगे ?' महर्षिको लगा, यह वृद्ध समझता नहीं कि ईश्वरीय सृष्टिमें जो कुछ भी मनुष्य प्राप्त कर सकता है, वह सब देनेकी क्षमता उनमें है ।

'भगवान् सब संसारको बनाता है । सबका पालन करता है । वह यह सब करते हुए बहुत-बहुत थक जाता होगा ।' वृद्धने बड़े सरल भावसे कहा । 'वह प्रसन्न रहे तो उसे थकावट नहीं लगेगी । मैं जब आनन्दमें रहता हूँ, कितना भी ढेर-सा काम करूँ । थकता नहीं हूँ ।'

'तुम तो भगवान्के भी सेव्य हो ।' वृद्ध कोलकी समझमें नहीं आया कि इन ऋषिने क्यों उसको हाथ जोड़कर प्रणाम किया । उसने तो घबराकर भूमिमें सिर रक्खा घुटनोंके बल बैठकर और शीघ्रतासे लौट पड़ा अपनी झोपड़ीकी ओर ।

× × ×

'तुम्हारी झोपड़ी कहाँ है ?' दूसरे दिन जब वृद्ध कोल लकड़ियाँ लेकर आया, उसे लगा कि महर्षि शाकल्य उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे । उसने जैसे ही भूमिपर मस्तक रक्खा, महर्षि आसनसे उठ आये । उन्होंने क्या आशीर्वाद दिया, वृद्ध समझ नहीं सका; किंतु ऋषि तो उससे उसका निवास पूछ रहे थे ।

'यहाँसे एक कोस दूर, नालेके किनारे हम कोलोंके झोपड़े हैं ।' वृद्धने प्रार्थना की—'पापी पेटके लिये हम वनवासी लोग पशुओंको मारते हैं । वहाँ आसपास अस्थियाँ पड़ी हैं और हमारे आवास बहुत अपवित्र हैं । आप वहाँ पधारें, ऐसा स्थान वह नहीं है ।'

'भगवान् श्रीद्वारिकानाथ इन्द्रप्रस्थ आये थे धर्मराज युधिष्ठिरके समीप ।' महर्षि शाकल्यने कहा—'आज एक परिव्राजक अतिथि पधारे थे । उन्होंने बताया कि वे धनञ्जयको साथ लेकर आखेट करने निकले हैं । यद्यपि उनका आखेट-शिविर यहाँसे पर्याप्त दूर है; किंतु अर्जुनके रथके लिये यह दूरी गणना करने योग्य तो नहीं है ।'

'मैंने अपने बापसे सुना है, महाराज पाण्डु हमारे स्वामी थे ।' वृद्ध हर्षित हो गया था—'पाण्डुपुत्र अर्जुन इधर आवें तो उनकी पद-वन्दनाका भाग्य मिलेगा इस अधमको और भगवान् तो आप-जैसे महात्माके यहाँ आवेंगे ही ।'

'श्रीकृष्ण इस आश्रमपर आवें—इसकी मुझे सम्भावना नहीं है ।' वृद्ध कोल ऋषिकी बात सुनकर उनका मुख देखता रह गया । ऋषि सर्वज्ञ हैं, अतः ठीक ही कहते होंगे । लेकिन जब ऋषिका दर्शन करने अर्जुन-श्रीकृष्णके आनेकी आशा नहीं है, उनके दर्शन होनेकी उसे भी क्या आशा है । उसका उत्साह शिथिल हो गया । वह राजशिविरमें जानेका साहस अपनेमें नहीं पाता है ।

'कल तुमने मुझसे कुछ माँगा नहीं ।' महर्षि अद्भुत भरे-भरे स्वरमें बोल रहे थे—'आज मैं तुमसे माँग रहा हूँ, तपस्वीकी माँगको अस्वीकार मत करना ।'

'आज्ञा भगवन् !' वृद्ध तो लगभग भयसे काँपने लगा । ऋषि इस प्रकार क्यों उससे बोल रहे हैं । ऐसी क्या बात है, जिसके लिये वे उसे सीधे आज्ञा नहीं दे सकते ।

'श्रीकृष्ण तुम्हारे झोपड़ेमें आवें तो उनसे अनुरोध करना कि वे इस ओरसे निकलें ।' महर्षिने अत्यन्त विनीत स्वरमें यह बात कही ।

'भगवान् मेरे झोपड़ेमें आयेंगे ?' वृद्ध जैसे आकाशसे नीचे गिरा हो, इस प्रकार चौंका ।

'वे तुम्हारे वहाँ आये बिना वनसे इन्द्रप्रस्थ लौट नहीं सकते ।' महर्षि कह रहे थे—'कौन जाने, तुम्हारे झोपड़ेतक आनेके लिये ही उन्होंने यह आखेटका बहाना बनाया हो । मैं कल ही समझ गया था कि इस वनमें श्रीकृष्णको आकर्षित करनेकी शक्ति कहाँ है ।'

वृद्धने ऋषिकी पूरी बात सुनी, इसमें भी संदेह ही है। वह कुछ क्षण तो स्थिर निष्कम्प खड़ा रहा और फिर एकदम घूमकर भाग खड़ा हुआ। उसे आज यह भी भूल गया कि ऋषिको प्रणाम करके वह लौटा करता है।

'भगवान् आवेंगे अपने झोपड़ेमें। ऋषिने कहा है तो आवेंगे ही।' वृद्धको लगता है कि कहीं श्रीकृष्ण उसके पहुँचनेसे पहले झोपड़ेमें पहुँच न गये हों। उसके पैरोंमें प्राण आ बसे हैं। उसे मार्ग-अमार्ग आज दीखता नहीं है।

'अपने झोपड़ेमें भगवान् आवेंगे!' पता नहीं कितने काम करने हैं। ग्राम-ग्रामके आस-पासकी भूमि, झोपड़ा ही स्वच्छ करना नहीं है। यह वनमार्ग क्या उनके आने योग्य है। अब वृद्धसे कौन कहे कि श्रीकृष्णको पैदल नहीं आना है।

मार्ग स्वच्छ करना है, समतल करना है और पता नहीं कहाँतक करना है। मार्गमें कोई पत्ता, टहनी, कंकड़ी न रहे—वनके मार्गमें यह श्रम कितने समय टिक पाता है। बीचमें स्मरण आता है—'झोपड़ेमें पुष्प, कन्द, फल तो बासी हो गये।' वृद्ध दूसरी ओर दौड़ता है।

इन दिनों बूढ़ा ऐसा अद्भुत बन गया है कि सोचा तक नहीं जा सकता। पूरे वनके निवासी जिसे अपना सरदार मानते हैं, जिसकी हुंकारसे इस बुढ़ापेमें भी काँपते हैं, वह और तो और, अपनी स्त्रीके सामने भी पृथ्वीपर मस्तक धर देने लगा है। कोई कुछ कहे, कोई प्रतिवाद करना चाहे, कोई उसके आदेशमें अपनी असुविधा बताने लगे, उसे आजकल एक बात आती है—पृथ्वीपर सिर धरकर गिड़गिड़ायगा—'भगवान् आते होंगे इस झोपड़ेमें। तुम मुझपर दया करो।'

सब है, सारी व्यस्तता है—इतनी व्यस्तता कि उसकी पत्नी और पुत्रोंको लगता है कि वह पागल हो गया है। उसे भोजन करानेमें भी प्रयास करना पड़ता है। किंतु महर्षि शाकल्यको वह लकड़ियाँ, कन्द, फल अब भी पहुँचा आता है और स्थान स्वच्छ कर आता है; किंतु अब उसे शीघ्रता रहती है और यह शीघ्रता तो उसे सभी कार्योंमें रहती है।

× × ×

'धनंजय! आज एक साधकके दर्शन करने चलना है।' श्यामसुन्दरने रथ चलते ही आखेटके सहचारियोंको निषेध कर दिया कि वे अनुगमन न करें। शिविरमें भी वे चलते-चलते कह आये हैं कि आज मध्याह्नमें उनकी प्रतीक्षा न की जाय।'

'ऐसा साधक इधर कौन है, जिसके दर्शन करनेको स्वयं द्वारिकाधीश उत्सुक हैं?' अर्जुनको आश्चर्य होना स्वाभाविक है। पाण्डव इतने प्रमादी नहीं हैं कि आसपासके काननमें रहनेवाले तपस्वियोंकी वे खोज-खबर न रक्खें। 'महर्षि शाकल्यकी गुहापर चल रहे हैं आज आप?'

अर्जुनके आश्चर्यका कारण है। महर्षि शाकल्य तपस्वी हैं, योगी हैं; किंतु हैं भगवान् वेदव्यासके प्रशिष्य और जब व्यासजी ही श्रीकृष्णके दर्शन करने इन्द्रप्रस्थ आते हैं, महर्षि शाकल्यको श्यामसुन्दर संदेश भेज देते तो वे अपना अहोभाग्य मानते।

'मानवके समीप आध्यात्मिक साधनके तीन उपकरण हैं—मस्तिष्क, हृदय और देह।' चलते रथमें माधव अपने सखाको समझा रहे थे—'मस्तिष्कके जो साधक हैं—प्रतिभाका प्रसाद जिन्हें मिला है, उन महर्षियोंके दर्शन हम दोनों इन्द्रप्रस्थमें कर लेते हैं। इन ज्ञानमूर्तियोंकी उपस्थिति धराको धन्य करती है।'

'हृदयका धन जिनके पास है, भक्तिदेवीके जो अनुग्रहभाजन हैं; नन्दनन्दनको उनके द्वारतक दौड़ना पड़ता है।' अर्जुनने हँसकर अपने नित्य सखाकी ओर देखते हुए कहा।

'सो तो है ही। इसीलिये द्वारिकासे बार-बार दौड़कर वह इन्द्रप्रस्थ आता है।' श्रीकृष्ण भी हँसे—'लेकिन आज एक देहके साधकके द्वारपर हम चल रहे हैं। उसके पास न बुद्धि है और न भावुकताकी शास्त्रीय बातें; किंतु देहको उसने लगा दिया है और तुम जानते हो कि देह सत्ता है। सत्ताका ठीक संयम होगा तो चित् और आनन्द उससे भिन्न नहीं रहेंगे।'

'सच्चिदानन्द स्वयं दौड़ा जा रहा है, यह तो देख रहा हूँ; किंतु वे महाभाग?' अर्जुनने पूछा!

'हम उस किरात-पल्ली चल रहे हैं।' रथके अकल्पित वेगने अबतक गन्तव्यतक पहुँचा दिया था उन्हें और पार्थको एक अद्भुत दृश्य देखनेको मिला। सम्पूर्ण वन-निवासी जैसे मूर्ति बने खड़े रह गये थे। श्रीकृष्ण स्वयं आतिथेय बन गये एक झोपड़ेमें जाकर; क्योंकि उसका स्वामी वृद्ध तो अपनेआपको भी भूल ही गया था।

'बाबा, महर्षि शाकल्यको कह, हम उनके आश्रमके सम्मुखसे जायँगे।' वृद्धने भले महर्षिको वरदान न दिया हो, उससे जो माँगा गया, श्याम उस माँगको अपूर्ण रहने कैसे दे सकता था। वृद्धके श्रवणमें स्वरोंने चेतना दी और वह संदेश देने दौड़ा—वह दैहिक साधक, उसे भला क्या चाहिये था। उसे देनेको त्रिभुवननाथके पास था भी क्या!

क्षयरोग और उसकी चिकित्सा

[५८ वर्षके वैज्ञानिक अनुभवके आधारपर]

(लेखक—स्वर्गीय डा० श्रीकुन्दनलालजी अग्निहोत्री, एम्० डी० (लंदन) मेडिकल आफिसर टी० बी० सेनेटोरियम)

आज देशमें जीवनको खोखला बना देनेवाले रक्तचाप, मधुमेह, अजीर्ण, कैंसर, क्षयरोग-जैसे विकट रोगोंकी वृद्धि होती जा रही है। एक ओर इनकी रोक-थामके उपाय किये जाते हैं और दूसरी ओर ये सुरसाके मुँहकी भाँति दिनोंदिन बढ़ते जाते हैं। अबसे ग्यारह वर्ष पूर्व (सन् १९५१ ई० में) कलकत्तेमें एक कामनवेल्थ कान्फ्रेन्स हुई थी, जिसका विवरण 'जनरल आव् द इंडियन मेडिकल असोसिएशन'के मई १९५२ के अङ्कमें छपा था। इसमें डा० बेंजमिन साहबने, जो सरकारके क्षयरोग-परामर्शदाता हैं, क्षयरोगपर बोलते हुए बताया था कि पाँच लाख व्यक्ति हमारे देशमें इस रोगसे प्रतिवर्ष मर जाते हैं। साथ ही यह भी कहा था कि सरकारी आँकड़े अपूर्ण हैं। वास्तवमें इनके अपूर्ण होनेका मुख्य कारण यह है कि साधारणतः लोग घरपर मरनेवाले क्षयरोगीकी मृत्युका कारण केवल ज्वर लिखा देते हैं। यह सभी अनुभव करते हैं कि इस समय क्षयरोग बड़े वेगसे हमारे देशमें बढ़ रहा है। बड़े-बड़े नगर तो उसके केन्द्र ही बन गये हैं। बी० सी० जी० के टीकाके विशेषज्ञ डा० एण्डरसनने कुछ समय पूर्व बरेलीमें भाषण देते हुए बताया था कि भारतमें प्रति एक हजारमें चार सौ तीस मौतें अकेले राजयक्ष्मा (टी० बी०) से होती हैं। कानपुर नगर महापालिकाकी एक रिपोर्टके अनुसार एक सप्ताहमें तपेदिकसे १९ व्यक्ति कानपुरमें मरे। कानपुरमें ही बी० सी० जी० के टीकेके सम्बन्धमें कुछ बच्चोंकी परीक्षा की गयी थी जिससे ज्ञात हुआ कि ६५% बच्चोंमें क्षयरोगके सक्रिय कीटाणु विद्यमान हैं अर्थात् हमारी भावी पीढ़ीका केवल ३५% क्षयग्रस्त नहीं है। वह भी आगे चलकर क्षयग्रस्त नहीं होगा, इसकी क्या गारंटी !

इससे भी बड़े दुःखकी बात यह है कि नवीन वैज्ञानिक अभीतक न तो इसकी अचूक सफल चिकित्सा ही खोज पाये हैं और न इसके सब कारणोंपर एकमत ही हो पाये हैं। रोक-थाम और चिकित्साके अधूरे साधनोंकी ही पूर्तिमें स्वयं सरकार अपने लिये असमर्थ पाती है। पहले क्षयरोगकी रोक-थामके लिये एक स्कीम अरबों रुपयोंकी बनायी गयी थी जिसे हमने तो उसी समय असम्भव बताया था, लेख भी लिखे थे। श्रीमती अमृतकौर, तत्कालीन स्वास्थ्यमन्त्राणीका तथा राष्ट्रपति महोदयका ध्यान भी इस ओर आकृष्ट करनेका प्रयत्न किया था; पर हमारी अंग्रेजियतकी दासताकी मनोवृत्तिमें सरकार किसी भारतीय विद्वान्की बात सुनना उस समयतक अपनी शानके विरुद्ध समझती है, जबतक उसपर किसी विदेशीकी छाप अङ्कित न की जाय। अस्तु, श्रीबेंजमिन साहबने अपने उल्लिखित भाषणमें स्वयं बताया कि 'धनाभावादि कारणोंसे वह स्कीम क्रियान्वित नहीं हो सकती।' श्रीमती अमृतकौरने भी यही कहा था कि 'धनाभावके कारण हम सब क्षयरोगियोंकी चिकित्साका पूर्ण प्रबन्ध नहीं कर सकते।'

एक ओर सरकार आर्थिक समस्याको नहीं सुलझा पाती; दूसरी ओर आधुनिक वैज्ञानिक इस रोगकी अचूक चिकित्सा नहीं खोज पाते। एलोपैथीके उच्चकोटिके प्रायः सभी वैज्ञानिकोंका कहना है कि क्षयरोग यदि अपना पंजा एक बार जमा लेता है तो जान लेकर ही पीछा छोड़ता है। श्रीमोलर साहब, जो अंग्रेजीकालमें क्षयनिवारक-सभाके कमिश्नर थे, कहते हैं कि अभीतक एलोपैथीमें किसी ऐसी ओषधिका आविष्कार नहीं हुआ है जो शरीरके भीतर टी० बी० के कीटाणुओंको मार सके और रोगीके शरीरको कोई हानि न पहुँचाये। प्रसिद्ध सरकारी संस्था भुवाली सेनेटोरियमके सुपरिंटेंडेंट डा० ग्रशेश्वर गोपालने लिखा है—

(१) यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि क्षयरोगको अच्छा करनेका कोई भी उपाय अभीतक नहीं निकाला गया है।

(२) आधुनिक विज्ञानके विचारसे (क्षय) रोगीका पूर्णरूपसे अच्छा होना असम्भव है।

इसी प्रकार एलोपैथीके अन्य सत्यप्रिय अनेक प्रामाणिक डाक्टर तपेदिकको लाइलाज बताते हैं। अपने अनुभव तथा जो कुछ थोड़ी-बहुत योग्यता एलोपैथीके विषयमें हम रखते हैं, उसके आधारपर हम इन डाक्टरोंसे पूर्ण सहमत हैं। इसी कारण हमने सन् १९०४ ई० में टी० बी० की अचूक चिकित्सा खोजनेका प्रण किया था, जो ईश्वरकी असीम कृपासे सन् १९२९ ई० में पूरा हुआ। जब हम बलपूर्वक जनताको बता सके कि टी० बी० की चिकित्सा और उसकी रोक-थाम दोनोंहीका वास्तविक उपाय यदि कोई है तो वह वेदोक्त विधि-पूर्वक हवन यज्ञ है। पचीस वर्षोंके रिसर्चकालमें हमने बिना किसी पक्षपातके अनेकों चिकित्सा-विधियोंके परीक्षण इस रोगके सम्बन्धमें किये और अब इन तैंतीस वर्षोंमें हजारों रोगियोंकी चिकित्सा और जबलपुरके सेनेटोरियममें अस्सी प्रतिशत रोगियोंको भगवत्कृपासे लाभ पहुँचानेके पश्चात् भी हमारे मतकी पुष्टि हुई है। जो लोग वेद-शास्त्रपर विश्वास और श्रद्धा रखते हैं, उनको तो हमारी लिखी 'यज्ञ-चिकित्सा' पुस्तकमें दिये वेदों एवं शास्त्रोंके प्रमाणोंसे ही पूर्ण विश्वास आ जायगा और यदि कोई टी० बी० का दुखी रोगी उनकी जानकारीमें हो तो उसी पुस्तकद्वारा उसकी चिकित्सा करके वे रोगीको जीवन-दान देनेका पुण्य और यश कमा सकते हैं; पर जो भाई प्राचीन सभ्यताकी बातोंपर कोई श्रद्धा नहीं रखते, उनसे हम निवेदन करेंगे कि वे हमारी उस पुस्तककी समालोचना दिल्लीके 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसे 'फारवर्ड' पत्रमें पढ़ें। वह अपने १३ अप्रैल १९५३ के अङ्कमें लिखता है; "इस युगमें जब कि यज्ञ आदि क्रियाओंपरसे विश्वास उठता जा रहा है, 'यज्ञ-चिकित्सा' को 'क्षयरोगकी प्राकृतिक अचूक चिकित्सा' माननेको सम्भवतः दस-बीस व्यक्ति भी सहमत न हों; किंतु लेखकद्वारा उपस्थित तथ्यों तथा युक्तियोंमें इतना बल है कि वे शङ्काशील तथा अन्यमनस्क पाठकको भी अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रह सकतीं।.....................," इत्यादि।

इस विषयका पूर्ण ज्ञान तो 'यज्ञ-चिकित्सा' पुस्तकद्वारा ही सम्भव है, पर पाठकोंकी जानकारीके लिये कुछ वैज्ञानिक विचार यहाँ भी प्रस्तुत करते हैं—

(१) सब विद्वान् जानते हैं कि स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्म अधिक शक्तिशाली है तथा सूक्ष्म स्थूलमें प्रवेश कर सकता है; स्थूल सूक्ष्ममें नहीं। आटेमें मिली हुई शक्करके सूक्ष्म परमाणु पृथक् करनेको मनुष्यकी स्थूल अँगुलियाँ असमर्थ हैं; पर चींटीका सूक्ष्म मुँह उसे सुगमतासे पृथक् कर सकता है। सोमेका एक छोटा टुकड़ा एक मनुष्य खा ले तो उसपर कुछ प्रभाव न होगा, पर उसी टुकड़ेको सूक्ष्म करके वर्क बनाकर खाये तो कुछ शक्ति आयेगी; और यदि बहुत सूक्ष्म करके अर्थात् भस्म बनाकर खाये तो पहले ही दिनसे उसकी गरमी अनुभव होगी और कुछ समयमें चेहरेपर सुर्खी और शरीरमें शक्तिका संचार हो जायगा।

अब विचार कीजिये कि क्षय-कीटाणुकी लम्बाई १। १५,००० इञ्च और चौड़ाई १। १,५०,००० इञ्च होती है। इतनी सूक्ष्म चीजपर बड़े कणवाली ओषधियोंकी पहुँच ही दुस्तर है, कीड़ोंको मारकर उनपर विजय प्राप्त करना तो दूरकी बात है; पर ओषधियोंका वह सूक्ष्म भाग जो यज्ञ-अग्निद्वारा छिन्न-भिन्न किया गया है, इन कीटाणुओं-को सुगमतासे मारकर रोग दूर कर सकता है।

(२) किसी वस्तुको सूक्ष्म करनेका सबसे बड़ा साधन अग्नि है। परीक्षाके लिये एक लाल मिर्च लीजिये। इसे स्थूलरूपमें एक व्यक्ति सुगमतासे खा सकता है, पर जब उसे खरलमें घोंटकर सूक्ष्म करें तो पास बैठे हुए कई आदमी उसके प्रभावको न सह सकेंगे; और यदि उसे आगमें जला दें तो दूर-दूर बैठे लोग भी खाँसने लगेंगे अर्थात् अग्निद्वारा सूक्ष्म करनेसे ओषधिकी शक्ति सबसे अधिक बढ़ जाती है। अतः हवन-यज्ञसे ही सूक्ष्म कीटाणुओंवाला क्षयरोग आरोग्य हो सकता है।

(३) पदार्थ-विद्यासे सिद्ध हो चुका है कि किसी वस्तुका नाश नहीं होता, प्रत्युत रूप बदल जाता है। जो ओषधि मुँहसे खायी जाती है वह रस-रक्त बननेके पश्चात् क्षयरोगीके फेफड़ोंतक पहुँचती है, पर अग्निमें जलायी ओषधि श्वासद्वारा सीधी फेफड़ोंमें पहुँचकर प्रभाव करेगी और बहुत सूक्ष्म होनेके कारण स्थायी प्रभाव करेगी। एक गूगलको ही लीजिये। आयुर्वेदमें इसे अन्य गुणोंके साथ रसायन, बलकारक, टूटेको जोड़नेवाला और कृमिनाशक

बताया है। यज्ञसे इसके सूक्ष्म परमाणु श्वासद्वारा सीधे फेफड़ोंमें पहुँचेंगे और अपने गुणके अनुसार उनके क्षतोंको भरेंगे तथा पुष्टि देंगे, जिससे धीरे-धीरे रोग दूर हो जायगा। घृत और कपूरको क्षत भरनेवाले गुणोंके कारण मरहमोंमें उनका उपयोग हम रोज देखते हैं। घी कृमिनाशक भी है। इसके अतिरिक्त ये सब ऐसे पदार्थ नहीं हैं जो शरीरके बाहर तो कृमियोंका नाश करते हों और शरीरके भीतर बिना शरीरको हानि पहुँचाये कृमियोंको न मार सकते हों, जैसा कि एलोपैथीकी सब कृमिनाशक ओषधियोंके सम्बन्धमें डाक्टरोंका मत है कि वे शरीरको हानि पहुँचाये बिना कृमियोंका नाश नहीं कर सकतीं।

(४) पदार्थ-विद्यासे सिद्ध हो चुका है कि जो कृमि हमारे शरीरको रोगग्रस्त करनेकी शक्ति रखते हैं, उन्हें धुआँ नष्ट कर देता है। इस बातको देखकर कि सब सजातियोंमें रोग दूर करनेका मोटा तरीका लकड़ी जलाना है, उसमें विज्ञानद्वारा सत्य देखनेका निश्चय फ्रांसके डा० त्रिलेने किया और मालूम किया कि लकड़ी जलानेसे 'फार्मिक आलडीहाइड' नामी एक गैस निकलती है जिसका गुण सब प्रकारके कृमियोंको मार डालना है। यह वस्तु रसायनमें बहुत प्रसिद्ध है। जलके सौ परमाणुओंमें इस गैसके चालीस परमाणु मिलाकर 'फार्मेलिन' नामी ओषधि बाजारमें बिकती है। कृमिनाशक और रोगनाशक होनेके कारण इसका प्रयोग फिनायल आदिकी भाँति मकान-शुद्धि आदिके लिये किया जाता है। पर उक्त गुण होनेपर भी इसमें एक बड़ा दोष यह है कि यह बड़ी बदबूदार होती है। हवन करनेसे भी यह धुआँ होता है अतः उसमें भी यह गैस होती है; पर सुगन्धित पदार्थ जलानेसे उसका यह दोष दूर हो जाता है; और ऐसी ओषधियाँ जलानेसे जो स्वयं कृमिनाशक और पुष्टिकारक हैं, उसमें कृमिनाशक गुण खूब बढ़ जाता है और अन्य गुण भी उत्पन्न हो जाते हैं।

(५) परीक्षण करनेके पश्चात् 'केमिकल प्रापरटीज' की सम्मति इस विषयमें निम्नलिखित प्रकार है—

'जायफल, जावित्री, बड़ी इलायची, सूखा चन्दन इत्यादि अग्निमें जलानेपर उनके उपयोगी भाग ज्यों-के-त्यों रहते हैं या सूक्ष्म हो जाते हैं। पहले-पहल इनसे सुगन्धित तैल गैस बनकर निकलते हैं। (हवन-गैसमें ये चीजें अपने असली रूपमें मिलती हैं। अग्नि इन चीजोंको गैस बना देती है।) उड़नेवाले तेलोंके परमाणु १। १०,०००,से १। १०, ००, ००, ००० सेंटीमीटर व्यासवाले देखे गये हैं।...'

अतः हवनमें इन चीजोंके गुण बहुत बढ़ जाते हैं और ये आसानीसे उन सूक्ष्म कीटाणुओंका नाश करते हैं, जिनकी सूक्ष्मताका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

अब तो अमेरिका भी सैकड़ों बर्षकी खोज एवं परीक्षणके पश्चात् इस चिकित्सा-सिद्धान्तका अनुमोदन करता है और वहाँके डाक्टर इसे क्षयरोगकी सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा बताते हैं। (देखो The Leader-Allahabad. Dated 6. 4. 55, Page 3, Column 5, Heading—'New Cure for T. B. of Lungs')

हम अत्यन्त नम्र भावसे, परंतु बहुत बलपूर्वक अपनी जनताकी सरकारसे निवेदन करते हैं कि जब वह एलोपैथीके अधूरे एवं अशुद्ध साधनोंकी पूर्तिमें भी असमर्थ है और दूसरी ओर उसके अपने देशमें ही अपने देशकी ऐसी विधि विद्यमान है, जिसके प्रभावसे सब रोगोंके साथ क्षयरोगसे भी हमारा देश बचा रह सकता है तो क्यों न रोगरक्षाकी इस अचूक विधिको अपनाया जाय? प्रथम किसी एक सेनेटोरियममें पूर्ण सामग्रीके साथ इसके परीक्षण अपनी देख-रेखमें विधि-पूर्वक कराकर अपना विश्वास कर लें।

जनतासे हमारा निवेदन

टी० बी० होनेका सबसे बड़ा कारण हमारे भोजनमें पौष्टिक तत्त्वोंका अभाव और निर्बल स्वास्थ्य है और इनका कारण आजकी मँहगाई एवं जनताकी परिवर्तित मनोवृत्ति है। सिनेमा देखनेके लिये १०, १५ रु० व्यय कर देनेवाले, सिगरेट, बीड़ी, चाय आदिमें २, ३ रु० नित्य फूँक देनेवाले भी जब शुद्ध दूध-घी-फल आदिके लिये धनाभावका बहाना प्रस्तुत कर अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं तो उनकी मूर्खतापर हँसी आती है। ये बुद्धिमान् सिनेमा, सिगरेट, चाय आदिके द्वारा स्वास्थ्यका नाश करनेमें और इस प्रकार रोगोंके लिये उपजाऊ भूमि तैयार करनेमें धन लुटाते हैं। इनके लिये तो हम परमात्मासे प्रार्थना ही कर सकते हैं कि वे इन्हें सद्‌बुद्धि प्रदान करें ताकि ये अपने हानि-लाभको यथातथ्य समझ सकें। पर जो समझदार हैं, उनसे हमें यह कहना है कि जन्म-जन्मान्तरोंकी दासताके पश्चात् ईश्वर-कृपासे अब हम लोगोंको स्वाधीनता-श्री प्राप्त हुई है। राजनीतिक स्वतन्त्रता

मिल गयी। मार्गका एक सोपान तय हुआ। पर हमारी विद्या और संस्कृतिके भव्य भवनको विदेशियोंने ध्वस्त कर दिया है। उसका निर्माण अभी शेष है। इसके लिये हमें किसीका अन्धानुकरण नहीं करना चाहिये। पथ-निर्माणका उत्तरदायित्व अब हमारा है। अतः हमें विवेक-बुद्धिसे काम लेना चाहिये। हमारे कल्याणके लिये प्राचीन साहित्यमें जो कुछ सुरक्षित है, उसे अवश्य अपनाना चाहिये। वह हमारे गौरवकी वस्तु है। चिकित्सा-क्षेत्रको ही लीजिये। आयुर्वेद और वेदके आधारपर जिस अनुसंधानकी आवश्यकता है, उसकी ओर हमने सिर्फ एक कदम ही उठाया है; पर जिस श्रद्धा-भावनासे खोजकी प्रवृत्तिसे, भारतीय मनीषियोंकी बालको समझनेकी लालसासे कार्य करनेकी आवश्यकता है, उसका अभी हममें अधिकांशतः अभाव है। हमें इस ओर ध्यान देना होगा, तभी हम सच्चे अर्थोंमें स्वाधीन और स्वावलम्बी बन सकेंगे।*

(प्रेषक—श्रीरवीन्द्र अग्निहोत्री एम्० ए० १६ केलाबाग, बरेली)

उन्नतिमें घोर बाधक 'ईर्ष्या'

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

मानवकी यह एक सहज कमजोरी है कि वह दूसरोंके उत्कर्षको सहन नहीं कर सकता। यदि वह अन्योंके उत्कर्षसे प्रेरणा एवं शिक्षा ग्रहण करता है तो स्वयं भी उन्नत हो सकता है, पर वह उल्टी दिशामें बह जाता है। वह अपनेसे अधिक सम्पन्न व्यक्तिके प्रति ईर्ष्यालु बनकर उसको नीचे गिरानेका असत् प्रयत्न करने लगता है। इससे उसे वास्तवमें कोई लाभ नहीं होता, अपितु घर फूँककर तमाशा देखनेकी कहावत चरितार्थ होती है। उसे यह संतोष होता है कि दूसरोंको उसने गिरा दिया, पछाड़ दिया या उनके महत्त्वको कम कर दिया। विचार-पूर्वक देखनेसे विदित होगा कि यह मनुष्यकी बहुत ही कुत्सित भावना है। स्वयंको कुछ लाभ नहीं, पर दूसरोंका नुकसान न भी कर सके तो उन्हें हैरान तो किया ही, एक बार तो उनके काममें बाधा पड़ी ही, बढ़ता हुआ उत्कर्ष रुका ही, लोगोंकी उनके प्रति सद्भावना बढ़ रही थी, वह कुछ कम हुई ही, इसीमें तो वह प्रसन्न होता है।

दुःख है कि भारतमें यह ईर्ष्यालु मनोवृत्ति इधर बहुत अधिक बढ़ रही है, इसीलिये भारतकी उन्नति भी कम हो रही है। पद-पदपर बाधाएँ उपस्थित हो रही हैं। हम एक-दूसरेको ऊँचा उठानेमें सहयोग तो कम ही देते हैं; पर जो अपनी योग्यता एवं सत्कार्य या गुणोंके बल-पर आगे बढ़ रहे हैं, उनके प्रति ईर्ष्यालु बनकर उनके आगे बढ़नेमें रोड़े अटकानेका प्रयत्न करते रहते हैं। लोगोंकी दृष्टिमें उनको नीचे गिरानेके लिये नानाविध उपायोंका अवलम्बन किया जाता रहता है। विरोधी गंदा प्रचार किया जाता है। उनके गुणोंको भी दोषोंके रूपमें प्रकट एवं उपस्थित किया जाने लगता है। उनके सब परोपकारके कार्योंमें भी स्वार्थको ढूँढ़ा या बतलाया जाता है। इससे दूसरोंका स्वाभाविक विकास एवं उत्कर्ष रुक जाता है। थोड़े समयमें जो सफलता उन्हें मिलनी चाहिये थी, उसकी गतिमें संघर्षोंके कारण बहुत देर हो जाती है, कभी-कभी तो सफलता मिल भी नहीं पाती और इससे देशका बहुत नुकसान होता है। दूसरोंको आगे बढ़ानेवाली बातोंको हम अपनाकर आगे बढ़नेका प्रयत्न करें तो किसीका मार्ग अवरुद्ध न होगा, अपनी भी उन्नति होगी। स्वदेशी देशकी चतुर्मुखी उन्नतिमें चार चाँद लग जायँगे। हम चाहते हैं कि देशमें भले काम हों, पर साथ ही यह भी चाहते हैं कि वे हमारे द्वारा ही हों, दूसरोंको उसका श्रेय न मिले। इसीसे दूसरेके द्वारा यदि कोई अच्छा काम होकर उसका नाम होता है तो हमें उस व्यक्तिके प्रति ईर्ष्या होने लगती है। यदि उस ईर्ष्यासे सत्प्रेरणा

* [स्वर्गीय डा० साहबकी मौलिक, अप्रकाशित रचना, जिसे उन्होंने १५ दिसम्बर १९६२ ई० को अपने अन्तिम प्रयाणसे ५ घंटा पूर्व ही अन्तिम रूप प्रदान किया।]

लेकर हम भी तदनुरूप अच्छे कामोंमें लगें तो हमारा तथा देशका बड़ा कल्याण हो सकता है, पर होता है इससे विपरीत। हम भले काममें प्रयत्नशील न होकर जिसके द्वारा भला काम हो रहा है, उसे यश न मिले, लाभ न मिले, उसका महत्त्व बढ़ न जाय—इसका प्रयत्न करते हैं। इसलिये उसमें दुर्गुण ढूँढ़ने लगते हैं या उसपर मिथ्या दोषका आरोप करने तथा नीचे गिराने एवं बदनाम करनेका प्रयत्न करने लगते हैं।

भारतमें ईर्ष्याका साम्राज्य-सा नजर आता है। बच्चोंसे लेकर वृद्ध, धनी, पण्डित, कोई भी प्रायः एक-दूसरेका आदर-सम्मान सहन नहीं कर पाता। एक बच्चा दूसरे बच्चेको चाहे वह अपना भाई ही हो, उसे अधिक प्यार एवं सुविधा पाते देख कुढ़ने लगता है। एक स्त्री दूसरीको अच्छी खाती-पीती, गहने-कपड़ा पहनती देख जलने लगती है कि इसको इतनी सुविधा मिली, मुझे क्यों नहीं मिली।

ईर्ष्या एक मानसिक विकार है। इसकी ज्वालासे व्यक्तिका विवेक जलने लगता है। उसे हिताहितका भान नहीं रहता। वास्तवमें आगे बढ़नेकी होड़ तो अच्छी बात है, अभ्युदयका लक्षण है और साधन है। बुद्धिमान् समर्थ पुरुष दूसरेको गिरानेका प्रयत्न न कर स्वयं आगे बढ़नेका पुरुषार्थ करता है। मूर्ख तथा कमजोर जो स्वयं आगे बढ़नेकी शक्ति अपनेमें नहीं देखता, वही उल्टी दिशा अपनाकर दूसरोंको नीचा गिरानेमें प्रवृत्त होता है।

अप्रकट रोष या क्रोधका नाम ईर्ष्या है। क्रोध प्रकट होनेसे उसका गुब्बारा निकल जाता है, जब कि ईर्ष्या भीतर-ही-भीतर घुटती रहती है। उसकी जलन बड़ी हानिप्रद होती है। दूसरोंको सम्पन्न, सुखी, अपनेसे अधिक सफल एवं आगे बढ़ा या ऊँचे चढ़ा हुआ देखकर—'इसको ऐसी स्थिति प्राप्त है, मुझे क्यों नहीं!' एक जलन-सी भीतर-ही-भीतर अनुभव होती है। किसीको सुख या महत्त्व पाते देखकर जी घुटने लगता है। यह मनुष्यकी बहुत बड़ी कमजोरी है। इस कमजोरीको प्रयत्नपूर्वक दूर करके दूसरोंकी उन्नतिमें प्रसन्न होना चाहिये।

ईर्ष्याका स्वास्थ्यपर भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। सुप्रसिद्ध चिन्तक काका कालेलकरने लिखा है कि 'काम, क्रोध और भयके मारे शरीरमें जो विकृति पैदा होती है और कभी-कभी रोग भी पैदा होते हैं, उसका तो सबूत नहीं मिलता। पर ईर्ष्या—अदेखाईकी मात्रा बढ़नेपर मनुष्यके पेटमें दर्द शुरू हो जाता है। पेटके दर्दका यही एकमात्र कारण नहीं, लेकिन अनेक कारणोंमें यह एक जबर्दस्त कारण तो है ही। ईर्ष्या और मत्सरके कारण पेटमें व्रण पैदा होते हैं और उनके कारण दूसरे भी रोग होते हैं। अब जब काम, क्रोध, भय, मत्सर, ईर्ष्या आदिके कारण शरीरमें विकृति हो सकती है तो लोभ, मोह, मद, अभिमान आदि विकारोंका भी शरीरपर असर होता ही होगा।'

संत तिरुवल्लुवरने ईर्ष्याके सम्बन्धमें क्या ही सुन्दर कहा है, 'ईर्ष्या करनेवालोंके लिये ईर्ष्याकी बला ही काफी है; क्योंकि उनके शत्रु उसे छोड़ भी दें तो भी ईर्ष्या उनको नहीं छोड़ेगी और उनका सर्वनाश कर देगी। दुष्टा ईर्ष्या दरिद्रता दानवीको बुलाती है और आदमीको नरकके द्वारतक ले जाती है।' एक अज्ञात व्यक्तिने भी कहा है, 'अगर हम तुलनाएँ न करें तो हमें अपनी ही वस्तुएँ खुश रखती हैं। वह कभी सुखी नहीं हो सकता, जो अपनेसे अधिक सुखीको देखकर क्लेश पाता है।' हमारेमें राष्ट्रिय मानवता एवं सहकारिताकी भावनाकी भी बड़ी कमी है। व्यक्ति अपने स्वार्थके लिये राष्ट्रका अहित कर बैठते हैं। ऐसा न करके हम मिल-जुलकर सहयोगसे काम करें। कंधे-से-कंधा भिड़ाकर राष्ट्रोन्नतिका प्रयत्न करें। अच्छे काम करनेवालोंसे ईर्ष्या न कर उनके कामोंकी प्रशंसा करें एवं उन्हें सहयोग दें। उनकी उन्नतिसे प्रसन्नता प्राप्त करें एवं अपनेको भी वैसा बनानेका प्रयत्न करें।

पण्डित और मूर्ख

(लेखक—आचार्य प्रवासी एम्० ए०)

जो सब तरहसे योग्य, बुद्धिमान् और समर्थ होते हुए भी विनीत है, वह पण्डित है; किंतु जो अयोग्य, अविवेकी और असमर्थ होते हुए भी अभिमानी है, वह मूर्ख है।

संसारका सामान्य-से-सामान्य प्राणी भी सुख चाहता है। सुखकी प्राप्ति धनसे होती है और धनसे यश बढ़ता है। जो धन और यशकी लिप्सा भी त्याग दे, वह पण्डित (महान्) है; किंतु जो चञ्चला लक्ष्मीको अचला बनानेका दुराग्रह करता है, वह निश्चित ही मूर्ख है।

साधारण जन प्रायः अपने और अपनोंके लिये झूठ बोलते हैं। जो स्वार्थके लिये और परार्थके लिये भी कभी झूठ न बोले, वह पण्डित है; किंतु जो न स्वार्थ और न परमार्थ—बल्कि अकारण ही झूठ बोलता है, वह मूर्ख है।

वेदोंमें लिखा है एक फलदार वृक्ष लगाना सौ उत्तम संतान पैदा करनेसे श्रेष्ठ है। वृक्ष फल देते हैं, छाया देते हैं और संसारको जीवन देनेवाले बादलोंको आकर्षित करते हैं। अतः जो वृक्ष लगाते हैं, वे पण्डित हैं; किंतु अपने स्वार्थके लिये जनहितके पोषक इन हरे-भरे वृक्षोंको जो काटता है, वह मूर्ख है।

दुःखमें साहस और सुखमें संयमसे काम लेनेवाला पण्डित है; किंतु दुःखमें कर्तव्यच्युत और सुखमें मदान्ध बन जानेवाला मूर्ख है।

जो विचारकर बोलता है, जिसकी जीभ हृदयमें है, वह पण्डित है; किंतु जो अविचारी है, जिसका हृदय जीभमें है, वह मूर्ख है।

जो दूसरोंकी गलती देखकर अपनी गलती सुधारता है, जो दूसरोंके अनुभवसे अपने ज्ञानकी वृद्धि करता है, वह पण्डित है; किंतु जो ठोकर खाकर भी कुछ नहीं सीखता, गलतियोंको दोहराता है, दूसरोंके अनुभवोंको निस्सार समझता है, वह मूर्ख है।

जो कर्म करनेमें विश्वास रखता है, जो कर्मनिष्ठ है और बड़े-से-बड़े कार्यभार अथवा बाधाको भी नगण्य समझकर कर्म-साधनामें लीन रहता है, वह पण्डित है। उसे सफलता निश्चितरूपसे मिलती है; किंतु जो आलसी है, प्रमादी है और केवल स्वार्थवश हाथमें लिये हुए कामको भी बाधाओंसे विचलित होकर बीचमें ही छोड़ देता है, वह मूर्ख है। वह जीवनभर ठोकरें खाता है।

जो अपनी सच्ची प्रशंसा सुनकर भी अपनी आत्माको प्रवञ्चित नहीं करता, आगे बढ़ता ही रहता है, वह पण्डित है; किंतु जो अपनी झूठी प्रशंसाको सुनकर और दूसरोंकी चापलूसीको समझकर भी अपनेको धोखा देता रहता है, वह मूर्ख है।

जो निरन्तर परहितमें निरत, दूसरोंकी विपत्तिको अपनी विपत्ति और दूसरोंकी सुख-समृद्धिको अपनी सुख-समृद्धि मानकर चलता है, वह पण्डित है; किंतु जो सदैव अपनी कौड़ी चित्त करनेके लिये दूसरोंका गलातक काटनेको तत्पर रहता है, जो अपनी विपत्तिको जगविपत्ति बनाकर भी अपनी सुख-समृद्धिको केवल अपनी ही धरोहर समझता है, वह प्रपञ्चक मूर्ख है।

जो पुराने शत्रु और नये मित्र—दोनोंको पहचानता है और दोनोंको अपना बना लेनेका कौशल जानता है, वह पण्डित है; किंतु जो पुराने शत्रुके दावमें आ जाता है और नये मित्रसे धोखा खा जाता है, वह मूर्ख है।

जो कार्यके कारण और फल दोनोंको भली प्रकार जानकर काममें हाथ डालता है तथा जो विधि-निषेधका पूरा ज्ञाता है, वह पण्डित है; किंतु जो न परिणामदर्शी है और न उसकी आवश्यकता-निरर्थकताका ज्ञान ही रखता है, जिसे न उपादानोंका ज्ञान है न प्रणालीका, फिर भी जिस-किसी काममें अपनी टाँग अड़ाया करता है, वह मूर्ख है।

जिसकी चोटी (शिखा) ऊँची होनेपर भी झुकी हुई है, वह पण्डित है; किंतु जिसकी मूँछें मुँह-लगी होकर भी ऐंठी जा रही हैं, वह मूर्ख है।

जो भयरहित, व्यवहारकुशल, लोकप्रिय और न्यायप्रिय है, वह पण्डित है; किंतु जो कायर, हठी, घमंडी और अविवेकी है, वह मूर्ख है।

जो धनको केवल जीनेका साधनमात्र मानता है, चरम साध्य नहीं, उसके संचयका लोभी नहीं, संरक्षणका आकांक्षी नहीं, व्ययसे चिन्तातुर नहीं, वह पण्डित है; किंतु जो धनका संचय अपनी असंयमित अनन्त पिपासाओं, दुर्दमनीय इच्छाओं और निरंकुश कामनाओंकी परितृप्तिके लिये करता है, जो संचय करनेमें दूसरोंका पेट काटता है, उसका संरक्षण (जमाखोरी) कर दूसरोंकी रोटी-रोजी छीनता है, वह अर्थपिशाच चाहे छोटा हो या बड़ा, निश्चित ही लोलुप, ईर्ष्यालु और मूर्ख है ।

यशकी लालसासे देवता भी मुक्त नहीं हैं—ऐसा कहा जाता है, फिर मनुष्य तो बेचारा कमजोरियोंका ही संकलित रूप है। अतः जो यशके लोभमें पड़कर अपनेको किसी बेगारमें न डालकर केवल कर्तव्यवश ही निर्वैयक्तिक भावसे कार्य करता है, वह पण्डित है; किंतु जो कर्तव्याकर्तव्यके जंजालको न समझकर भी झूठे यशके लोभमें अपनी शक्ति, समय और साधनोंका निर्दयतापूर्वक अपव्यय करता है, वह मूर्ख है ।

वासना अनधिकृत, असामयिक, असंतुलित, अस्वाभाविक, अमर्यादित मानसिक आवेगको कहते हैं । जो इस सत्यको आत्मसात् कर अपने आवेगोंपर नियन्त्रण करनेमें सफल होता है, वह पण्डित है; किंतु जो वासनाओंके वशीभूत हो, उचितानुचितका ज्ञान खोकर मनमानी कर बैठता है, वह अपना मूल्य खो बैठता है । वह पशुवत् है, मूर्ख है ।

मर्यादा ही शक्ति है । समुद्र मर्यादित होकर ही शक्तिशाली है । अस्त्रों-शस्त्रोंकी घातकता उनकी मर्यादामें ही है । कुत्ता अपनी गलीमें ही शेर है, अतः जो अपनी मर्यादाओंको जानता है, वह शक्तिशाली है, पण्डित है; किंतु जो गप्पी है, वह अपनी बात खो देता है । जो अपव्ययी है, वह अपनी साख खो देता है । जो धोखेबाज है, वह अपना विश्वास खो देता है। इसी प्रकार मर्यादाओंको जो भुला देता है, वह अपना मूल्य खो देता है, शक्ति खो देता है । जो इस तथ्यको जानकर भी अनजान बनता है, वह निश्चित ही मूर्ख है ।

सभी प्रकारके संग्रहोंका अन्त क्षय है, चेतनाका अन्त मृत्यु है, रूपका अन्त जरा है । जो इस शाश्वत सत्यको पहचानता है, वह पण्डित है; किंतु जो लोभवश, मोहवश और वासनाओंके वशीभूत होकर संग्रहको ही जीवनका, जीवनको लालसाका और रूपको वासनाका चरम लक्ष्य मानता है, वह मूर्ख है ।

अवसर जीवनमें सफलताके शिखरपर पहुँचनेकी सीढ़ियाँ हैं । भाग्यका (ईश्वरीय) वरदान है, अतः जो प्राप्त अवसरसे लाभ उठाकर जीवनको समुन्नत करता है, वह पण्डित है; किंतु जिसे अवसरकी पहचान नहीं अथवा जानकर भी भविष्यमें फिर मिलनेवाले अवसरकी आशामें जो प्राप्त अवसरको छोड़ देता है, पूरीकी आशामें हाथकी आधी रोटीको त्याग देता है, वह निश्चित ही भूखों मरता है, ठोकरें खाता है, अतः वह मूर्ख है ।

जो भूतकी स्मृतियोंको भुलाकर और भविष्यकी दुश्चिन्ताओंको छोड़कर केवल वर्तमानमें ही विश्वास करता है, वह कर्मवीर पण्डित है; किंतु जो भूत (काल) के भार (ईर्ष्या-द्वेष-हानि-लाभ) को सिरपर लादकर एवं भविष्यकी मृग-मरीचिकाके पीछे भागनेमें वर्तमानको बिल्कुल भुला बैठा है, वह अकर्मण्य मूर्ख है ।

महत्त्वाकांक्षा जीवनकी चेतना है और संतोष मृत्यु । अतः जिसको जीवनमें उन्नतिकी प्रबल आकांक्षाने कर्ममें प्रवृत्त कर रक्खा है, जिज्ञासाने ज्ञान-मन्दिरके कपाट खोल रक्खे हैं, जिसके जीवनका लक्ष्य दम्भ नहीं सचेतनता है, वह पण्डित है; किंतु जो आगत-अनागत सभीको जिस रूपमें है स्वीकार करता है, भाग्याधीन होकर कर्मसे छुट्टी पा जाना अपना परम लक्ष्य समझता है, हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना और संतोषका नाटक करना जिसने परम कर्तव्य मान लिया है, वह मूर्ख है ।

जो अन्तःकरणकी प्रेरणाको सच्चाईसे ग्रहण कर स्वयं आलोकित होता है और संसारको आलोकित करता है, मनमें जो है वही कथनीमें है, वही करनीमें है—इस प्रकार आत्माकी वाणीको जो सच्चाईसे व्यक्त करता है, वह पण्डित है; किंतु जो अन्तःप्रेरणाकी अवहेलना कर तनकी वासनाओं और मनकी मन्त्रणाओंमें अपनेको उलझाये रखकर भी परम पवित्र और शुचिमान् बननेका दम भरता है, वह मूर्ख है ।

जो प्रवृत्तियोंके आग्रह, पूर्ति और तृप्ति तथा दुष्प्रवृत्तियोंके निरोध, शमन एवं संयम आदि द्विविध रूपोंका ज्ञाता, व्याख्याता एवं विवेचक है, वह पण्डित है; किंतु जो प्रवृत्तियोंके दुराग्रहको प्रश्रय देता है, पल्लवित, पुष्पित और फलित होने देनेका अवसर देता है, जो दुष्प्रवृत्तियोंकी पूर्तिमें प्रवृत्त ही नहीं—प्रमत्त भी दिखायी देता है, वह मूर्ख है ।

जो व्यक्ति अन्तःकरणकी निर्मलतामें, उसकी सत्य वाणीमें निरुद्वेग और स्थिरचित्त रहकर जीवनके समस्त कर्तव्योंकी यथोचित पूर्ति करता रहता है, वह पण्डित है; किंतु जो आत्मा-की इस वाणीकी अवहेलना कर क्षुद्र स्वार्थोंको ही जीवनमें अधिक प्रश्रय देता है, जो हित-अनहित, कर्तव्य, स्थान, समय और स्थितिके औचित्यका ज्ञान अपने किसी व्यक्त या अव्यक्त स्वार्थके कारण खो बैठता है, वह मूर्ख है।

जो 'सम्पद्'में सहज (निरभिमान) और 'विपद्' में सचेत रहता है, वह पण्डित है; किंतु जो सम्पत्ति पाकर मदमत्त और विपत्तिमें पड़कर विह्वल हो जाता है (उसका अन्त समीप है), वह मूर्ख है।

जो जीवनको जीव (आत्मा) की लीला मानकर निष्कलुष चित्तसे उसे कर्मण्य बना देता है, वह पण्डित है; किंतु जो जीवनको संघर्ष और प्रतिस्पर्धा मानकर मात्र प्रति-द्वन्द्वी शक्तियों या व्यक्तियोंको पराभूत करनेके लिये छल-बलसे कर्मकी भावनाको भी कलुषित करनेका दुष्प्रयास करता है, वह मूर्ख है।

जो अपने सुख-दुःखोंके अनुभवसे दूसरोंके सुख-दुःखों-का अनुमान सर्वज्ञकी भाँति कर लेता है। जो परदुःखकातर तो है; किंतु पर-सुख-द्वेषी नहीं—दूसरोंका उपकार करता है और उपकारीके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करता है, वह पण्डित है; किंतु जो मात्र 'स्व' की सीमामें बद्ध, पर-सुखद्वेषी, ईर्ष्यालु, अकर्मण्य और अकृतज्ञ है, स्वयं संग्रहशील किंतु दूसरोंके लिये रंचमात्र भी न देनेवाला है, वह मूर्ख है।

जो अतियोंको छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाता है, वह सदा सुखी और प्रसन्न रहता है; किंतु जो अति-व्यसनी, अति-संग्रही, अति-गर्वी और अतिवादी है, वह निश्चित ही मूर्ख है।

जिसके लिये संसारमें कोई पराया नहीं है, वह पण्डित है; किंतु संसारमें जिसका अपना कहनेको कोई नहीं है, वह मूर्ख है।

जो समय, स्थान और पात्रको देखकर ही जबान खोलता है, वह पण्डित है; किंतु जो यशकी लालसासे, धनके लोभसे अथवा केवल आडम्बरके लिये बिन-पूछे, बिन-बूझे, अनजाने और असमय ही बोलता रहता है, वह अपनी शक्तियोंका अपव्यय करता है, भ्रममें भूला है, वह निस्संदेह मूर्ख है।

जिसके हृदयमें द्विधा कहीं नहीं है; जो मनमें है, वही वाणीमें, वही कर्ममें है; जिसके विचारोंमें कहीं द्विधा नहीं, जो सिद्धान्तमें है, वही व्यवहारमें है; जिसके जीवनमें कहीं द्विधा नहीं, जो 'स्व' और 'पर'के मध्य भेदबुद्धिका प्रश्रय नहीं देता और जिसके संकल्प-विकल्प सभी उसके व्यक्तित्व और चरित्रकी दृढ़ताके प्रतीक हैं, पोषक हैं, प्रेरक हैं, वह पण्डित है; किंतु जिसके जीवनमें स्थिरता नहीं, विचारोंमें सबलता नहीं, वाणीमें सरलता नहीं, मनमें दृढ़ता नहीं, कर्ममें निष्काम शुचिता नहीं—जो कामनाओंका दास, प्रपञ्चबुद्धि और लम्पट है, वह पाषाण-तरीपर आरूढ हो जीवन-सागर-संतरणकी व्यर्थ चेष्टा करता है और निश्चय ही मूर्ख है।

जो जीवनके उपसर्ग-विसर्गोंको केवल राहपर लगे हुए मापचिह्न (milestone) मानकर उनका समुचित निरीक्षण कर आश्वस्त तो होता है, पर लक्ष्य-बिन्दुके प्राप्त न होनेतक निरन्तर आगे ही बढ़ता जाता है, वह पण्डित है; किंतु जो पथ-बाधाओंसे घबराकर निरन्तर विश्रामकी कामनामें अपनेको भुलाता रहता है, 'गति'की नहीं 'यति'की कामना करता है, वह आलसी, कामचोर और मूर्ख है।

संग्रहसे अधिक जीवनमें त्याग-विराग-वृत्तिका महत्त्व है। पदयात्री केवल बहुत आवश्यक सामग्री ही साथ लेकर चलता है। संतरण करनेवाला उससे भी कम बोझ लाद सकता है। अतः जो अधिक नहीं बँधता, अधिक संग्रह नहीं करता, बहुत मोह नहीं करता, वह पण्डित है; किंतु जो दुर्बुद्धि अनेकानेक प्रपञ्चोंसे मोह-माया-ममता-वश अथवा लोभवश गँवारकी तरह खा मरे (अत्यधिक आत्मरति या स्वार्थ) अथवा उठा मरे (अत्यधिक संचय-संग्रह) वह निरा मूर्ख ही तो है।

जो खुद ठोकर खाकर ही नहीं, दूसरोंको लगी ठोकरसे भी सीख लेता है, लाभ उठाता है, वह पण्डित है; किंतु जो बार-बार ठोकर खाकर भी रोड़ेका ज्ञान नहीं रखता, न अपनी भूल ही सुधारता है, वह मूर्ख है।

जो अपनी सूझ, शालीनता और तत्परतासे कटुको

मधुर बना लेता है, विषको अमृत बनाकर पी सकता है, वह मृत्युञ्जय है। वह दूसरोंसे ईर्ष्या नहीं करता, ईर्ष्यासे जलता नहीं, प्रेरित होता है, वह पण्डित है; किंतु जो निर्बुद्धि, प्रमादी और अकर्मण्य व्यक्ति ईर्ष्यावश आत्मदाहमात्रके वश रहता है, वह अपना ही अहित करता है। वह अपने अमृतमय हृदयको विषमय बना देता है, अतः वह मूर्ख है।

जो दूसरोंके गुण और अपने दोष देखता है, वह पण्डित है; किंतु जो दूसरोंके दोष और अपने गुण देखता है, वह मूर्ख है।

परमुखापेक्षितासे बढ़कर विवशता नहीं, अतः जो आत्मनिर्भर है, वह सबसे अधिक सुखी है—वह पण्डित है; किंतु जिसने अपनी शक्तियोंको भुला दिया है, स्वाभिमानको जो तिलाञ्जलि दे चुका है, जो पग-पगपर पराश्रयका खोजी है, वह मूर्ख है।

जो अपनी सफलताका श्रेय दूसरोंको देनेमें अतत्परता नहीं दिखाता और असफलताके लिये परिस्थितियोंको नहीं स्वयंको दोषी ठहराता है, वह पण्डित है; किंतु जो सफलताका श्रेय एकमात्र अपनेको देता है और असफलताके लिये दूसरोंको कोसता है, वह मूर्ख है।

रूप-गुण-सम्पन्न होकर भी जो निरहंकारी है, सम्पन्न और कुलीन होकर भी जो निर्मोही है, कर्ता-धर्ता, द्रष्टा-स्रष्टा सब कुछ होकर भी जो अहंकाररहित है, वह पण्डित है; किंतु जो धनवान् होकर भी घमंडी है, दयामायाशून्य है, वह निर्धन है। जो नगण्य होकर भी गणमान्य बननेका ढोंग रचता है, वह निर्लज्ज मूर्ख है।

जिसमें स्वयं नीचा देखने (विनयशीलता) की प्रवृत्ति है, पर दूसरोंको नीचा दिखाने (लज्जित या लाञ्छित करने) की लेशमात्र भी कामना नहीं, वह पण्डित है; किंतु जो मात्र दूसरोंको नीचा दिखानेके लिये कृतसंकल्प है, वह दुराग्रही अवश्य ही मूर्ख है।

जिसका व्यक्तित्व एकरस है, जिसका चरित्र एकरूप है, जिसका आचरण एकात्म है, जिसका चित्त एकाग्र है और हृदय एकतान एवं एकलय है, वह पण्डित है; किंतु जिसका व्यक्तित्व दूषित, चरित्र कलुषित, आचरण दुस्सह, चित्त भ्रान्त और हृदय पंकिल हो, जो गिरगिटकी तरह क्षण-क्षण रंग बदलता हो, जो प्रत्यक्ष कुछ और परोक्षमें कुछ हो, वह दोगला है, अपने दुष्कर्मोंसे अपनी कब्र खुद खोदता है, वह नितान्त मूर्ख है।

जो अच्छाईको मात्र (अप्रत्यक्षमें भी) सुनकर या जानकर ही ग्रहण कर लेता है, वह पण्डित है; किंतु जो उसे प्रत्यक्ष फलित होते देखकर भी नहीं अपनाता, वह निस्संदेह मूर्ख है।

जो सबको अपना समझता है और अपनेको सबका, वह पण्डित है; किंतु जो अज्ञानवश, प्रमादवश अथवा स्वार्थवश अपने और दूसरोंके बीच अपने आचरण अथवा दम्भके कारण दरारें बनाता रहता है, वह अपने ही लिये गड्ढे खोदता है। अपना ही अहित करता है। वह नादान दयनीय और मूर्ख है।

आत्मग्लानिसे बढ़कर प्रायश्चित्त नहीं और आत्मश्लाघासे बढ़कर पाप नहीं। जो इस रहस्यको आत्मसात् कर चुका है, वह आत्मोत्थान भी करता है और आत्मसम्मान भी पाता है। अतः वह पण्डित है; किंतु जो निर्लज्ज है, उसके आत्मतोषके लिये बेहयाईसे बढ़कर अमोघ अस्त्र नहीं, अपनेसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं, अपराधसे बढ़कर सम्पत्ति नहीं, डींगसे बढ़कर स्वस्तिवाचन नहीं, अपमानसे बढ़कर पुरस्कार नहीं, अनादरसे बढ़कर आत्मसम्मान नहीं, वह केवल अभिमानको अपनी पूँजी समझनेवाला निश्चित ही मूर्ख है।

जो गुणान्वेषी है, पर-छिद्रान्वेषी नहीं, जो निर्लोभ है और जिसकी आकाङ्क्षाएँ सीमित हैं पर जिज्ञासाएँ निस्सीम, जो परिग्रही है पर केवल 'सद्'का, साथ ही अपरिग्रही भी है—समस्त असद्का''वह पण्डित है; किंतु जो सदसद्-विवेक-शून्य, आकाङ्क्षाओंका अन्धानुयायी और निपट लोभी है, वह अनन्त अतृप्तियोंको तृप्त करनेकी चेष्टामें हाय-हाय करता ही मरेगा; क्योंकि वह मूर्ख है।

भोजनमें प्रसाद-बुद्धि

[एक महात्माका प्रसाद]

(संकलयिता—श्री'माधव')

श्रद्धापूर्वक जीवन और जगत्का अध्ययन किया जाय तो यहाँ सब कुछ भगवान्का प्रसाद ही तो है—क्या यह जीवन और क्या यह जगत्; परंतु भोजनके सम्बन्धमें विशेष सावधानीकी अपेक्षा है। गहराईसे देखो, भोजन किस लिये किया जाता है? भूखका दुःख न हो तथा प्राण अर्थात् जीवनशक्ति काम करती रहे, इसलिये भोजन किया जाता है। विवेकी पुरुष तो भोजन नहीं करता बल्कि प्राण-भगवान्को आहुति देता है। आहुति ऐसी वस्तुओंकी दी जानी चाहिये जिनसे जीवनशक्ति दैवी स्वभावकी हो, अर्थात् आसुरी स्वभाव न आने पावे। भोजनका शारीरिक स्वभावसे अभेद सम्बन्ध है। भोजनकी सामग्री सत्त्वप्रधान हो। सत्त्वप्रधानका यह अर्थ नहीं है कि केवल फल, दूध आदि हो, बल्कि रोटी, साग, दाल, भात आदि सादा आहार हो और अधिक कालका बना हुआ न हो, जो पचनेमें भी सुगम हो और प्राणोंको अधिक कालतक शक्ति भी दे सके। भोज्य पदार्थोंके प्राप्त करनेके लिये धन भी सात्त्विक अर्थात् न्यायपूर्वक उपार्जित हो और भोजन बनानेवाला भी सात्त्विक स्वभावका हो अर्थात् परिवार-सम्बन्धी हो। नौकरसे भोजन उनको बनवाना चाहिये जो अपने समान उसको भी खिला सके, नहीं तो, अपने घरके लोगोंसे ही बनवाना चाहिये जिससे भोजनमें मानसिक अपवित्रता न आने पावे। भोजन बनानेके लिये वही उचित होता है जिसका हृदय माताके समान विशाल हो।

आहुतिमें अभक्ष्य पदार्थ (अंडा-मांसादि) बिलकुल नहीं होना चाहिये। उन पदार्थोंके सेवन करनेसे प्राणोंमें शक्तिहीनता और स्वभावमें असुरता आती है। प्रत्येक ग्रास देते हुए हृदयमें यह भाव हो कि हम प्राण-भगवान्को आहुति दे रहे हैं। प्रधानतया पाँच प्रकारका प्राण है। यह भावना दृढ़ करनेके लिये भोजनके आरम्भकालमें आचमन करनेके पश्चात् प्रत्येक प्राणके नामसे 'प्राणाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा'—ऐसा बोलकर सात्त्विक पदार्थोंके पाँच ग्रास आहुति दें। ऐसा प्रतिदिन करनेसे 'मैं भोजन नहीं करता, बल्कि प्राणको आहुति देता हूँ'—यह भावना दृढ़ हो जायगी और भोजनमें आसक्ति नहीं रहेगी। इससे स्वादबुद्धिका अन्त हो जायगा और स्वादका अभाव हो जानेपर वीर्यरक्षा बड़ी सुगमतासे हो जाती है। जो भोजनका संयम नहीं कर सकता, वह वीर्यरक्षा नहीं कर सकता। वीर्यरक्षाके बिना बुद्धि आदिमें सात्त्विकता नहीं आती। अतः साधकको भोजन समझ-बूझकर करना चाहिये। देखो, एक-एक ज्ञानेन्द्रियसे एक-एक कर्मेन्द्रियका सम्बन्ध है। जो स्वादको नहीं जीत पाता वह उपस्थको नहीं जीत सकता, जैसे जो सुन नहीं पाता, वह बोल भी नहीं सकता। अतएव भोजनमें भोगबुद्धि न होकर प्रसाद-बुद्धि लानेसे साधकका सारा साधन सहज एवं स्वाभाविक हो जाता है और उसे व्यर्थके खटरागोंमें नहीं उलझना पड़ता।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

बच्चेसे सहानुभूति

यह सची घटना दिनाङ्क ४ । ६ । ६४ अपराह्न दो बजेकी है । मेरा लगभग ११ वर्षका बच्चा, जिसका नाम व्रजेशकुमार 'राजू' है, मुझसे बाटाकी चप्पल लेनेके लिये आग्रह करने लगा। कठिन धूप होनेके कारण मैंने उसे समझा-बुझाकर मना किया। पर उसके हठ करनेपर मैं स्वयं न जाकर उसे पाँच-पाँचके दो नोट देकर साइकिलसे भेज दिया। अभी वह साइकिल सीटपरसे नहीं चला पाता है। कैंची साइकिल चलाकर चौकपर स्थित बाटाकी दूकानपर, जो घंटाघरके पास है, गया। साइकिलमें ताला लगाकर वह अंदर चप्पल लेने गया और चप्पल पसंद होनेपर उसका बिल पेमेन्ट करनेके लिये अपनी जेबसे रुपया निकाला, भीड़ होनेसे बालक रुपया कैशियरको देनेकी कोशिशमें था कि उसके हाथसे दोनों नोट किसीने सफाईसे निकाल लिये। बालक तुरंत रोने लगा। उसकी बातपर किसीने विश्वास नहीं किया, बल्कि उलटे कुछ लोग उसीको धूर्त बताने लगे। बच्चा तो था ही, वह अधिक घबरा गया। उन्हीं व्यक्तियोंमें एक उदार-हृदय सज्जन भी बैठे थे, उनकी कार बाहर खड़ी थी। उनकी धर्मपत्नी तथा बच्चे भी साथ थे। उन्होंने यह सब घटना देखी और इसपर विचार किया। इसके बाद उन्होंने बच्चेको बुलाया, अपने झोलेसे एक लड्डू देकर पानी पिलाया और दस रुपयेका नोट देकर उसके चप्पलका पेमेन्ट कर दिया। चप्पलका मूल्य ५.५० था, सेलटेक्स आदिके कुछ और पैसे हुए थे। कैशियरने उन पैसोंको काटकर शेष रुपये उक्त सज्जनको लौटा दिये और उन्होंने वे पैसे मेरे बच्चेको दे दिये। इसके बाद वे अपनी कारके ऊपर उसकी साइकिल रखकर मेरे घरके ही संनिकटके चौराहे तक बच्चेको छोड़ गये। घर आकर बच्चा सारी घटना सुनाकर फूट-फूटकर रोने लगा और बच्चेने उक्त सज्जनकी उदारता बतायी तथा उनकी कारका नम्बर जो उसको याद था, ५५७७ यू० सी० एन० बताया। बालकके तथा बाटावालोंके पूछनेपर भी उस विशालहृदयके व्यक्तिने अपना पता नहीं बताया। केवल इतना ही कहा कि 'मैं दिल्लीका हूँ।' इस घटनासे मैं तथा मेरा सारा परिवार जितना रुपये गुम होनेके गमसे दुखी नहीं हुए, उतना उस उदारहृदय सज्जनके विषयमें सोच-सोचकर आत्मविभोर हो गये। उन उदारहृदय सज्जनके प्रति हमारे कृतज्ञतापूर्ण अभिवादन।

—राजकुमार पाण्डेय

(२)

सब व्यवस्था करनेवाली भागवती शक्ति

यह घटना सन् १९५६ की है। मैं अपनी मोटर-साइकिलपर बैठकर एक आवश्यकीय कार्यके लिये एल्० एच्० शुगर फैक्टरी काशीपुरको चला, जो कि नगरसे दक्षिण-पूर्वकी ओर है। जब मेरी मोटर-साइकिल चौराहेपर पहुँची तो किसी अज्ञात शक्तिने उसको उत्तरकी ओर मोड़ दिया और कहा कि श्रीगरजिया देवीके मन्दिर चलो। मेरी समझमें नहीं आया और मैं उस अन्तःप्रेरणासे प्रभावित हो उसी ओर चल दिया। वह मन्दिर रामनगर मण्डीसे लगभग नौ मील, काशीपुरसे छब्बीस मीलपर कोशी नदीके बीचमें एक बहुत ऊँची चट्टानपर है। इस चट्टानका घेरा लगभग दो-ढाई सौ फुट होगा। बड़ी-बड़ी बाढ़ें आयीं, सीमेंटके बनवाये हुए सरकारी बंधे बह गये, मगर यह पतली चट्टान तीन-चार सौ फुट ऊँची वैसी ही बनी रही। यहाँ श्रीगरजिया देवीका मन्दिर है और मैं सन् १९३० में जब पहली बार जेल गया, तभीसे अपने स्वर्गीय पूज्य पिताजीकी आज्ञासे शक्तिका उपासक बना। मैंने चढ़ानेके लिये रामनगरसे प्रसाद खरीदा और श्रीगरजिया देवीपर प्रसाद चढ़ाकर वापस लौटा तो अपनी आदतके अनुसार मैं मोटर-साइकिल रोककर पहाड़ी बच्चों, स्त्रियों तथा पुरुषोंको प्रसाद बाँटने लगा। यहाँ जंगल-ही-जंगल है। एक जगह मुझे कराहनेकी आवाज सुनायी दी। मैं अंदर जंगलमें घुसा तो क्या देखता हूँ एक नैपाली डुटियाल पड़ा कराह रहा है। मैंने उसे प्रसाद दिया और पूछा क्या बात है तो उसने बताया कि मैं दो दिनोंसे यहाँ पड़ा हूँ। मेरे पैरमें लकड़ी काटते कुल्हाड़ी लग गयी। मैंने उसपर अपनी कमीज बाँध दी है। रातको शेर दहाड़ता रहा और मैं भगवतीका नाम लेता रहा। मैंने उसे सब प्रसाद खिला दिया और किसी प्रकार उसको रामनगर रानीखेत सड़कपर लाया। उस समय शाम हो गयी। कोई सवारी नहीं और मोटर-साइकिलपर आना मुश्किल था। मैं वहीं खड़ा रहा, अँधेरा होनेपर एक ट्रक आती दिखायी

दी। मैंने बीच सड़कमें मोटर-साइकिल खड़ी कर दी। ट्रक रुकी, उससे उस घायलको ले जानेकी प्रार्थना की। पैसा देनेपर वह तैयार हो गया। रामनगरके अस्पतालमें उसको भर्ती कराया। सब प्रबन्ध करके जब वापस आया, तो सोचा कि आगे-से-आगे मुझे सचमुच वही सब विधान और व्यवस्था करनेवाली भागवती शक्ति ही वहाँ ले गयी, जिसको उस घायल पहाड़ीके प्राण बचाने थे।

—डा० रामशरण सारस्वत, काशीपुर

(३)

हृदयकी आदर्श विशालता

दास-प्रथाको लेकर अमेरिकामें गृहयुद्ध छिड़ा (१८६१–१८६५)। दास-प्रथा-समर्थक सेनाके प्रधान सेनाध्यक्ष तम्बाकूवाले वर्जीनिया राज्यके जनरल ली थे। जनरल ली इस युद्धमें परास्त हुए और उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। संधिकी शर्तें तय करने और उनपर हस्ताक्षर करानेके लिये दास-प्रथाविरोधी दलकी ओरसे जनरल ग्राण्ट लीके पास गये। ग्राण्टकी दशा उस समय वही थी, जो भीष्म और द्रोणके सामने अर्जुनकी हुआ करती थी। गृहयुद्धसे पूर्व ग्राण्ट लीकी मातहतीमें काम कर चुके थे और लीने उन्हें सैन्य-संचालनमें बहुत कुछ शिक्षा-दीक्षा भी दी थी। गुरुतुल्य लीको पराजित और मानभङ्गकी अवस्थामें देखकर ग्राण्ट विह्वल हो गये। उन्होंने लिखा, I felt like anything rather than rejoicing at the downfall of a foe who had fought so long and valiantly. ऐसे शत्रुके गिर जानेपर, जो इतने दीर्घ कालतक इतनी वीरतापूर्वक लड़ा हो, मुझे चाहे कुछ भी हुआ हो, परंतु प्रसन्नता नहीं हुई।

युद्धका नियम है कि पराजित शत्रुके अस्त्र-शस्त्र और वाहन छीन लिये जाते हैं; परंतु लीके केवल एक बार कहनेपर ही ग्राण्टने अफसरोंके व्यक्तिगत हथियार एवं घोड़े उन्हींके पास रहने दिये। लीके यह बतलानेपर कि 'खाद्य सामग्री समाप्त हो जानेसे उसके २५००० सैनिक भूखे हैं', ग्राण्टने तुरंत उसकी समुचित व्यवस्था करा दी। इसी समय युद्ध-मन्त्रीका संदेश आया कि 'जनरल लीके आत्मसमर्पणकी खुशीमें तुरंत १०० तोपोंकी सलामी छोड़ी जाय।' ग्राण्टने लिखा कि 'ली-जैसे वीरको बार-बार यह स्मरण दिलाना कि तुम पराजित हो गये हो, शोभनीय नहीं है। विजयोत्सवके उपलक्ष्यमें तोपें न छोड़ी जायँ, नहीं तो, लीसे अधिक मेरी आत्माको कष्ट पहुँचेगा।'

ग्राण्टकी प्रार्थना स्वीकृत हो गयी और तोपें नहीं छोड़ी गयीं।

(४)

पेडेरेवस्कीकी आदर्श उदारता

अमेरिकन राष्ट्रपति हरबर्ट क्लार्क हूवर (१८७४ ?) एक लोहारके पुत्र थे। इनकी आयु केवल छः वर्षकी थी कि पिताका देहान्त हो गया। विधवा माता कपड़े सी-सीकर अपना और अपने बच्चोंका पेट पालती थी। कुछ दिनोंके बाद वह भी मर गयी। तब हूवरका पालन-पोषण इनके एक चाचाने किया। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इनका विद्यार्थी-जीवन बड़ी दरिद्रावस्थामें कटा। जब ये कैलीफोर्निया-के विश्वविद्यालयमें पढ़ते थे, तो समाचार-पत्र बेच-बेचकर अपनी पढ़ाईका खर्च चलाते थे। इन्हीं दिनों पोलैंडके विश्वविख्यात संगीतज्ञ पेडेरेवस्की (Paderewski) अपनी मण्डलीके साथ कैलीफोर्निया पधारे। हूवरको पैसा कमानेकी अच्छी तरकीब सूझी। उन्होंने पेडेरेवस्कीसे २००० डालरमें ठेका कर लिया कि आपको अपने प्रदर्शनका शुल्क २००० डालर मिलेगा और जो खर्च होगा तथा जो टिकिटोंकी बिक्री होगी, वह सब हमारी। संगीतज्ञ तैयार हो गये; परंतु दुर्भाग्यसे टिकिट बहुत कम बिके। २००० डालरका शुल्क कैसे दिया जाय, यही एक समस्या बन गयी, लाभ तो कहाँसे हो। कोई और उपाय न जान हूवरने सारी स्थिति पेडेरेवस्कीके सामने रक्खी और उनकी उदारता तथा क्षमाशीलताके लिये अपील की। उदारहृदय पेडेरेवस्कीने उत्तर दिया, 'लड़के! मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ। भविष्यमें फिर कभी ऐसी भूल न करना। टिकिटोंकी जो आय हुई हो, उससे हालका किराया, बिजली इत्यादिके बिल चुकाओ और जो कुछ बचे, वह हमें दे दो। हम उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेंगे।'

हूवरने ऐसा ही किया। जाते हुए पेडेरेवस्कीने हूवरको अपने पास बुलाया और उनके हाथपर कुछ डालर रक्खे। हूवरने आश्चर्यचकित होकर पूछा, 'यह क्या?' पेडेरेवस्कीने हूवरकी पीठ थपथपाते हुए कहा—'तुमने टिकिट बेचनेमें कठोर परिश्रम किया है लाभकी आशासे। मैं चाहता हूँ कि मेरे नामपर कोई व्यक्ति निराश न जाय। तुम बच्चे हो। बच्चोंसे भूल हो ही जाती है।'

हूवरने डालर ले लिये और उनका हृदय कृतज्ञतासे भर गया। बादमें इन्हीं हूवरने खानोंके उद्योगमें करोड़ों रुपया कमाया। प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१८) की समाप्ति-पर यूरोपकी आर्थिक स्थिति बड़ी शोचनीय थी। संयुक्तराष्ट्र अमेरिकाने १० करोड़ डालर यूरोपवासियोंकी सहायताके लिये भेजे। इस सारी रकमको बाँटनेके पूर्ण अधिकार हूवरको दिये गये और उस समय हूवर पेडेरेवस्कीके पोलैंडको नहीं भूले।

यह पेडेरेवस्कीकी उदारताका ही फल था कि हूवर ऋणग्रस्तोंसे कभी कठोर व्यवहार नहीं करते थे। जब वे राष्ट्रपतिके पदपर काम कर रहे थे तो १९३० की भयानक मन्दी आयी। यूरोपियन राष्ट्रोंने अमेरीकी ऋण चुकानेमें अपनी असमर्थता प्रकट की और हूवरने उनसे अत्यन्त उदारतापूर्वक व्यवहार किया।

—राजेन्द्रप्रसाद जैन, तिरसा

(५)

भगवत्कृपासे प्राप्त हैजेकी साधारण परंतु रामबाण दवा

घटना १९४७ ई० की है। मेरे छोटे भाई श्री एस्० आर्० मिश्र आगरेमें थे। वहाँसे उन्होंने लिखा कि श्रावण मासमें मथुरा-वृन्दावनमें बड़ा आनन्द रहता है। इसलिये यदि तुम अमुक तारीखको वहाँसे चलकर आगरे आ जाओ तो वहाँसे एक अनुभवी व्यक्तिको लेकर भ्रमण किया जाय। मैंने स्वीकृति-पत्र भेज दिया। उस समय मैं पलिया (नसीराबाद) में रहता था। घर और बच्चोंकी देख-रेखका भार अपने बाबा श्रीपुत्तूलालजीको निवास-स्थान हरिपुरसे बुलवाकर सौंप दिया और मैं नियत कार्य-क्रमके अनुसार सिधौली स्टेशनपर पहुँचा। यहाँ आनेपर पता चला कि मेरे छोटे चाचा श्रीअवधेशप्रसादको घरपर हैजा हो गया है, इसलिये घरसे बाबाको बुलानेके लिये एक आदमी नसीरा-बाद भेजा गया है। अब मैं बड़े असमंजसमें पड़ा। इसी परेशानीमें मैं अपने दूसरे चाचा श्रीमुकताप्रसादजीसे सलाह लेनेके लिये शामकी ही गाड़ीसे कमलापुर गया। उनको सारी परिस्थिति बतला दी और उनसे मैंने उचित सलाह माँगी। उन्होंने भी कहा कि इस तरह तुम्हारा बाहर जाना ठीक नहीं है; परंतु मेरी मथुरा-वृन्दावन जानेकी उत्कट अभिलाषाको देखकर वे बोले कि देखो, 'एक बड़े अच्छे महात्माजी फरदहनसे आये हुए हैं। उनसे भी बात कर ली जाय। हम लोग उनके पास पहुँचे और सारा हाल उनसे बताया। वे कुछ देर सोचते रहे, फिर बोले कि 'अगर इसी समय रातमें ही कोई आदमी हरिपुर जाय और मेरी बतायी हुई ओषधि सेवन करावे तो रोगी अवश्य स्वस्थ हो जायगा।' अब रातों-रात पाँच मील गाँवको जाना, वह भी जहाँ हैजेका प्रकोप हो, बड़ी कठिन समस्या थी। मगर मथुरा-वृन्दावन जानेकी मेरी ऐसी प्रबल इच्छा थी कि मैं आगमें भी कूदनेके लिये तैयार था।

अतः करीब आठ बजे रातको साइकिलद्वारा मैं कमलापुरसे हरिपुरके लिये रवाना हुआ। मेरे साथ चाचाजीने अपने लड़के चन्द्रशेखरको भी कर दिया था। इस तरह नौ बजे रातको हम गाँव पहुँचे। वहाँ कोहराम मचा हुआ था। चाचाजी जमीनपर पड़े पीड़ासे कराह रहे थे। बाबाजी भी वापस आ चुके थे। मैंने पहुँचते ही सबको ढाढस बँधाया और महात्माजीकी बतायी हुई दवाका प्रयोग किया। पहली खुराक दी गयी, पंद्रह मिनटके बाद दूसरी खुराक देते ही कुछ पेशाब उतरा, आध घंटेके बाद तीसरी खुराक देनेपर खुलकर पेशाब उतरा, दर्द कम पड़ा और वे सो गये।

सबेरे उनकी हालत करीब-करीब ठीक हो गयी। तब बाबाजीसे मैंने अपने प्रोग्रामके बारेमें पूछा, उन्होंने गद्गद कण्ठसे कहा कि बेटा! यह सारा कौतुक उन्हीं गोपीजन-वल्लभके प्रभाव तथा महात्माजीके आशीर्वादसे ही तो हुआ है, नहीं तो, ऐसे मरणासन्न रोगीको कौन बचानेवाला था। अब तुम निर्भय होकर अवश्य प्रस्थान करो, मैं भी आज ही शामतक नसीराबाद अवश्य पहुँच जाऊँगा।

निदान, मैं सिधौली आकर साथ जानेवाले बच्चोंको लेकर प्रोग्राममें कुछ विलम्ब हो जानेके कारण बसद्वारा ही लखनऊ होता हुआ कानपुर पहुँचा। वहाँपर ट्रेन पकड़कर निश्चित समयपर ही आगरा पहुँच गया। वहाँ भैया स्टेशनपर ही मिले। घर जाकर आद्योपान्त हाल बताया। सबने भगवान् श्रीकृष्णकी कृपाका प्रत्यक्ष प्रभाव बताया। फिर आनन्दपूर्वक मथुरा-वृन्दावनकी यात्रा सम्पन्न हुई और करीब पंद्रह दिनोंके बाद मैं कुशलपूर्वक वापस आ गया।

पाठकोंकी जानकारीके हेतु महात्माजीका बताया हुआ दवाका नुस्खा लिखता हूँ ताकि जनसाधारणतक महात्माजीकी

कृपासे लाभ उठावें। मगर इसमें कोई कभी भी पैसा कमानेके प्रयत्न करनेका साहस कदापि न करें।

१—खस (सींक अथवा ताजी जड़)	= ३ मासा	एक खुराक
२—तुलसीदल (ताजी पत्ती)	= १० अदद	
३—काली मिर्च	= ७ अदद	

ये तीनों चीजें ताजे पानीमें पीसकर कपड़ेसे छानकर बिना ही गरम किये रोगीको पिला दे। स्वादके लिये कुछ मीठा या नमक भी पिलाया जा सकता है।

——कन्हैयालाल मिश्र (स० रजिस्ट्रार कानूनगो)

(६)

प्रभु-कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव

यह घटना गत वर्ष चार अगस्तकी रात्रिकी है। दो मास पहले ही मेरे पतिदेवका स्थानान्तरण वाराणसी हुआ था। हमलोग सपरिवार वाराणसी आ गये थे। चार अगस्तको मेरे पतिदेव दौरेपर मिरजापुर गये। बंगलेपर चौकीदार था तथा एक चपरासी एवं एक मेरा निजी नौकर। ये सब इसी बंगलेमें रहते थे। रात्रिमें सोये हुए थे। मुझे किसी प्रकारका भय न था। मैं सब प्रकार अपनेको सुरक्षित समझती थी और भगवान् श्रीश्यामसुन्दरको अपना रक्षक समझती थी। मैं और मेरे चारों बच्चे सोये हुए थे। अंदर आँगनमें मेरे घरका नौकर सोया था। रात्रिके करीब ढाई बजे थे। बाहरसे किसीने कहा—'कोई है, कोई है?' मैंने समझा कोई तारवाला होगा। चौकीदार तार ले लेगा; किंतु दूसरे ही क्षण मेरे कमरेके दरवाजे, जो कि शीशेके ही थे, टूटने शुरू हो गये। मैंने सोचा कि 'मेरा चपरासी कहीं पागल तो नहीं हो गया है?' मैं दरवाजेके पास गयी। मैंने पूछा—'कौन है?' जवाबमें बाहर जो आदमी खड़ा था, उसने मुझे पिस्तौल दिखलाया और कहा 'चुप-चुप'। मैं तो डरके मारे चीख पड़ी और सीधे अंदर घरका दरवाजा खोलती हुई आँगनमें पहुँची, जहाँ मेरा नौकर सोया था। मैंने उससे कहा कि 'डाकू कमरेका दरवाजा तोड़ रहे हैं।' फिर घबराहटमें पता नहीं मैंने क्या कहा। वह एक मोटा डंडा लेकर कमरेमें आ गया, तो दो आदमी खिड़कीसे और दो आदमी दरवाजेमेंसे धमकाने लगे कि 'सिटकनी खोल दो, नहीं तो तुमको मार डालेंगे।' लेकिन वह लड़का जो सिर्फ सोलह-सत्रह सालका रहा होगा, बड़ा बहादुर वफादार और साहसी था। उसने कहा कि 'तुम मेरे मरनेपर ही अंदर आ सकते हो।' और दरवाजेके पास ही लाठी लिये खड़ा रहा तथा जोर-जोरसे चिल्लाता रहा कि 'चोर हैं, दौड़ो' किंतु उस समय पानी बरस रहा था, इसलिये पड़ोसी भी कैसे सुनते। मेरी घबराहटकी तो सीमा न थी। चपरासी तथा चौकीदारको तो वे लोग पहले ही मारकर भगा चुके थे। घरमें अकेली मैं और वह नौकर—सिर्फ दो आदमी थे। बच्चोंको, जो मेरे साथ शोर सुन आँगनमें आ गये थे और जब सब ओरसे अपनेको असहाय पाया तो अत्यधिक घबराये हुए थर-थर काँप रहे थे, मैंने गुसलखानेमें बंद कर दिया। सुना था कि ऐसे लोग बच्चोंको भी मार डालते हैं। मैं भगवान्से प्रार्थना कर रही थी कि वे लोग भले ही सब सामान ले जायँ; लेकिन मेरे नौकर, बच्चों और मुझसे कुछ न कहें। वे आठ आदमी थे और यहाँ सिर्फ एक छोटा सोलह सालका साहसी लड़का था, जो उन्हें रोके था और जोर-जोरसे सहायताके लिये चिल्ला रहा था। जब मैं सब ओरसे निराश हो गयी और बच्चोंको भयभीत देखा, तब मैंने उनसे कहा कि 'सिर्फ भगवान्का ही आसरा है। वही अशरणशरण करुणासागर हमारी रक्षा कर सकते हैं। उन्हींका नाम लो।' जब सारे सहारे समाप्त हो जाते हैं, जब एकमात्र प्रभुका सहारा दीखता है, तभी सच्चे हृदयसे उन्हें पुकारा जाता है। मैं अब भी आश्चर्य करती हूँ कि उस समय मेरे सब बच्चे अति कातर वाणीमें 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।' उच्चारण करने लगे। पाँच मिनट भी नहीं बीते होंगे कि एकाएक कमरेमें जो नौकर चिल्ला रहा था, उसकी आवाज एकदम बंद हो गयी। मैंने समझा कि कहीं उसको मार तो नहीं डाला अथवा मुँहमें कपड़ा तो नहीं ठूँस दिया। प्रभुका नाम लेनेके कारण मुझे अपने अंदर शक्ति मालूम हुई और मैं कमरेकी ओर यह देखनेके लिये भागी कि 'जो लड़का हमारे लिये अपने प्राण हथेलीपर लिये खड़ा है, कहीं उसे वे लोग मार न दें, इसके पहले मैं अपनी जान दे दूँगी।' ऐसी भावना लेकर मैं कमरेमें घुसी तो देखती क्या हूँ कि जैसे भगवान् साक्षात् ही सहायता करनेको अपने मधुर नामोंको विश्वासपूर्वक पुकारनेवालेकी रक्षा करनेके लिये आ गये हों। हमारे पड़ोसके ही बंगलेमें सी०ओ० लाइन्स श्रीकमलामलजी रहते थे। जब हमारे चौकीदारको डाकुओंने मारकर भगा दिया था तो वह बेचारा गिरता-पड़ता बारिसमें उन लोगोंकी आँख बचाकर पीछेकी ऊबड़-खाबड़ रास्तेसे श्रीमल साहबके यहाँ पहुँचा और उनके सिपाहीको जगाया। उसने शीघ्र ही अपने साहबको जगाया और कहा कि 'गोस्वामी साहब घरपर नहीं हैं और डाकू आ गये हैं। बहूजी और बच्चे अंदर हैं।' वे परोपकारी सज्जन

तथा उनकी धर्मपत्नी तुरंत जग गये। उनकी साहसी पत्नीने कहा कि 'वे अकेली हैं। आप शीघ्र ही जाइये।' वे अपनी रिवाल्वरमें गोली भरकर वैसे ही नंगे पाँव बारिसमें भीगते हुए अपनी जानकी परवा न कर हमारे यहाँ अपने दो सिपाहियों-को लेकर आ पहुँचे और उन डाकुओंको धमकाया कि 'यदि नहीं भागोगे तो गोली चला दूँगे।' डाकुओंने समझा कि बहुत आदमी सहायताको आ गये, अतः वे सब शीघ्र ही जिधरसे मौका लगा भाग गये। जब मैं कमरेमें आयी तो वे ही परोपकारी सज्जन भगवान्‌के स्वरूप बनकर हमारी रक्षाके लिये आ गये थे। मैंने तुरंत उनके चरण पकड़ लिये। धन्य हैं, उनकी वीर पत्नी, जिन्होंने प्राणोंका भय होते हुए भी एक दूसरी नारी एवं उसके बच्चोंकी रक्षाके लिये अपने पतिको भेज दिया। उस दिन मुझे प्रभुके नामोच्चारण एवं उनकी असीम कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। जय हो भगवान् दीनबन्धुकी!

—धर्मपत्नी गोस्वामी श्रीहरिजीवनलालजी, जिलासहायता तथा पुनर्वास अधिकारी—वाराणसी

(७)

गरीबकी ईमानदारी

घटना अभी कुछ ही दिनों पहलेकी है। तारीख १६-५-६४ के दिनको करीब १० बजेकी है। सोजतरोडमें श्रीसीतारामजी नामक ख्यातिप्राप्त स्वर्णकार हैं। आपकी दूकानपर तीन व्यक्ति और भी काम करते हैं। दिनाङ्क १६ को सीतारामजीने गलेमें पहननेकी चैन या कनकतीको साफ करनेके लिये तेजाबके प्यालेमें डाला; किंतु अनजानसे तेजाबके प्यालेके पानीको बदलनेके लिये, सत्यनारायण नामक लड़केने, जो सीतारामजीकी दूकानपर रहता है, रास्तेमें उड़ेल दिया। कनकती रास्तेमें गिर गयी। उसकी लागत करीब पाँच सौ रुपयेकी थी। यह जानकर कि कनकती खो गयी है, सभी लोगोंने बहुत तलाश किया, पर कोई पता न चला। सभी लोग परेशान एवं उदास थे; परंतु कनकतीका किसीको भी ध्यान न था। सत्य-नारायण बेचारा उदास बैठा था, लेकिन सीतारामजी धैर्यकी मूर्ति बने विचार रहे थे और उन्होंने सत्यनारायणको कुछ भी नहीं कहा। कनकती रास्तेमें वंशीलाल राठौड़के लड़केको मिल गयी थी और वह अपने घरपर ले गया था। जब शामको वंशीलाल घरपर आया तो बच्चेने कहा कि 'मुझे यह मिली है।' इधर मुहल्लेमें बात चल रही थी कि सीतारामजीकी कनकती खो गयी है। वंशीलाल घर आते ही दो पड़ोसियोंको साथ लेकर सीतारामजीकी दूकानपर आया और कनकती उन्हें दे दी। सीतारामजीकी प्रसन्नता-का ठिकाना न रहा और उन्होंने भी वंशीलालके लड़केको सोनेके कर्णफूल पहना दिये।

ऐसी ईमानदारी कोई बहुत बड़ी महत्त्वकी चीज नहीं, यह तो स्वाभाविक सभीमें होनी चाहिये; परंतु वर्तमान युगमें, जहाँ बड़े-बड़े अमीर बेईमान हो रहे हैं, दूसरोंके हकके पैसोंपर मन चला लेते हैं, वहाँ गरीबकी ईमानदारी बहुत बड़ी सराहनीय बात है और असलमें ईमानदारी बची भी है—कुछ गरीबोंमें ही। भारतमें ऐसे ही व्यक्तियों-की आवश्यकता है।

—कन्हैयालाल वर्मा, सोजतरोड

सबमें भगवान् देखिये

वे हरि सब में बसि रहे, सब ही तिन के रूप।
सब में तिन की छबि छिपी मोहन परम अनूप॥
सुंदर रस बीभत्स अति रौद्र भले हो सांत।
जनम-मरन, सुख-दुःख, सुभ-असुभ, भयानक-कांत॥
बस्तु परिस्थिति प्रानि सब बिबिध बिचित्र बिधान।
लीलाबपु तिनके सकल चिदचित् छुद्र महान॥
निरखि निरखि मन मुदित ह्वै कीजै सबन्हि प्रनाम।
सब कौं दीजै सुख सदा, कीजै हित के काम॥

श्रीहरिः

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी कुछ सरल सुन्दर उपदेशप्रद सस्ती पुस्तकें

इन पुस्तकोंमें लौकिक, पारलौकिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक, नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक, सर्वतोमुखी उन्नति करनेमें सहायक एवं सभी वर्ण-आश्रम, स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओंके कामकी यथेष्ट सामग्री है। वस्तुतः ये पुस्तकें परमार्थ-तत्त्वका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने एवं जीवनका वास्तविक उत्थान करनेके लिये अत्यन्त उपयोगी हैं।

आत्मोद्धारके साधन—पृष्ठ-संख्या ४६४, रंगीन चित्र ४, मूल्य	१.२५
कर्मयोगका तत्त्व—पृष्ठ-संख्या ४२०, दो तिरंगे, तीन सादे चित्र, मूल्य	१.१२
महत्त्वपूर्ण शिक्षा—पृष्ठ-संख्या ४७६, रंगीन चित्र ४, मूल्य	१.००
परम साधन—पृष्ठ-संख्या ३७२, तिरंगे चित्र ५, मूल्य	१.००
मनुष्य-जीवनकी सफलता—पृष्ठ-संख्या ३५२, तिरंगे चित्र ५, मूल्य	१.००
परमशान्तिका मार्ग—पृष्ठ-संख्या ४१६, चित्र रंगीन ४, सादे २, मूल्य	१.००
मनुष्यका परम कर्तव्य—पृष्ठ-संख्या ४१०, चित्र रंगीन ४, मूल्य	१.००
ज्ञानयोगका तत्त्व—पृष्ठ-संख्या ३८४, चित्र रंगीन ३, मूल्य	१.००
प्रेमयोगका तत्त्व—पृष्ठ-संख्या ३८०, चित्र रंगीन ५, सादा १, मूल्य	१.००

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग।

☞ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ भेजनेके पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेताओंसे पुस्तकें प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इससे आप भारी डाकखर्चसे बच सकते हैं। गीताप्रेसकी सभी पुस्तकोंपर पुस्तक-विक्रेताओंको नियमानुसार कमीशन तथा फ्री डिलेवरी दी जाती है, अतः ये पुस्तकें उनके यहाँ प्रायः छपे मूल्यपर ही मिलती हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्याण'के अबतकके विशेषाङ्कोंमें सबसे अधिक बिकनेवाले विशेषाङ्क

'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क'का दूसरा संस्करण

'कल्याण'के अबतक कुल सैंतीस विशेषाङ्क निकले हैं, जिनमें २४वें वर्षका 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' १,२५,००० छपा था, जो उस समयतकके विशेषाङ्कोंमें सबसे अधिक था। उसके बादके विशेषाङ्क कई कारणोंसे कम संख्यामें छपने लगे। फिर ३४वें वर्षका 'सं० देवीभागवताङ्क' १,२५,००० छपा। उसके बाद ३५वें वर्षका 'सं० योगवाशिष्ठाङ्क' १,३१,००० छापा गया, ये दोनों अब अप्राप्य हैं। ३६वें वर्षका 'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क' उसी हिसाबसे १,३१,००० छापा गया; परंतु उसकी माँग इतनी अच्छी रही कि सब प्रतियाँ हाथों-हाथ बिक गयीं और हजारों पुराने ग्राहकोंको भी अङ्क न मिल सके। इसलिये कामकी भारी असुविधा होनेपर भी २०,००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापना पड़ा। इस प्रकार इस अङ्ककी कुल प्रतियाँ एक लाख इक्यावन हजार छप गयीं, जो अबतकके विशेषाङ्कोंमें एक कीर्तिमान् अङ्क है।

यह विशेषाङ्क सुप्रसिद्ध शिवपुराणके साररूपमें सरल हिंदी भाषामें बहुत ही सस्ता है। इसमें भगवान् शिवकी बड़ी ही विचित्र मधुर लीलाओंका, भक्तवत्सलताका और उनके अवतारोंका तथा योग-भक्तिके तत्त्वोंका बड़ा ही विशद और सर्वोपयोगी वर्णन है। कथाएँ बड़ी ही रोचक तथा प्रभावोत्पादक हैं।

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र सुन्दर बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८ कुल १६८—यह विशेषाङ्क भक्तोंके लिये परमोपयोगी और संग्रह करने योग्य है। अतः जिन्हें लेना हो, वे रु० ७.५० (डाकखर्चसहित) भेजकर रजिस्ट्रीसे मँगवा लें अथवा वी० पी० द्वारा भेजनेकी आज्ञा दें।

'कल्याण'के २४वें वर्षका विशेषाङ्क 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' अब भी प्राप्य है

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संग्रहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६.५० डाकव्यय-सहित। साथ ही इसी वर्षका दूसरा तथा तीसरा अङ्क बिना मूल्य।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियोंके साथ-साथ हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, परलोकवाद, श्राद्ध-तत्त्व, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, समाजरचना, ज्ञान, भक्ति, योग, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, यज्ञानुष्ठान, पीठविज्ञान, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, आयुर्वेद, विज्ञान, अङ्कगणित, कर्मविज्ञान, उपासनातत्त्व, तीर्थ-व्रत, पर्व-त्यौहार, शिक्षा, विभिन्न सम्प्रदाय, स्थापत्यकला, मन्दिर, मूर्तिकला, शिल्प, चित्रकला, नाट्यकला, चौंसठ कलाएँ, गान्धर्वविद्या, वाद्ययन्त्र, क्रीडा, अस्त्र-शस्त्रादि, वैमानिककला, नौ-निर्माणकला, काल-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, ज्यौतिष, सामुद्रिक, नक्षत्र-विज्ञान, रत्न-विज्ञान, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं।

डाकखर्च सबमें हमारा है।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)